श्री गणेश प्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला

श्रीमद् भट्टाकलंकदेव विरचित

लघीयस्त्रय

हिन्दी–अनुवाद एवं टीका
सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री
पूर्वप्राचार्य, श्री स्याद्वाद महाविद्यालय
भदैनी, वाराणसी

सम्पादक
डॉ० कमलेश कुमार जैन
वरिष्ठ प्राध्यापक जैन दर्शन
जैन–बौद्ध दर्शन विभाग
सस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–५

प्रकाशक
श्री गणेश वर्णी दि. जैन संस्थान
नरिया, वाराणसी

ग्रन्थमाला सम्पादक
प्रो० (डा०) राजाराम जैन
प्रो० उदयचन्द्र जैन

ISBN-81-86957-44-0

वी०नि० सवत् २५२६
ई० सन् २०००

प्रथम सस्करण, ११०० प्रतियाँ

मूल्य पचास रूपये मात्र

मुद्रक ·

अजय प्रिंटर्स एवं पब्लिशर्स,
19, सिविल लाईन्स, रूडकी – 247 667
दूरभाष 01332 - 73140, 74740

Shri Ganesh Prasad Varni Granthmala

Shrimad Bhattakalank Dev's

LAGHIYASTRAYA

Hindi-translation and Commentary

Siddhantacharya

Pandit Kailashchandra Shastri

Editor

Dr. Kamlesh Kumar Jain
Banaras Hindu University
Varanasi

Shri Ganesh Varni Dig. Jain Sansthan

Naria, Varanasi

GRANTHMALA EDITORS

Prof (Dr) Rajaram Jain

Prof Udaichandra Jain

ISBN-81-86957-44-0

V N Samvat . 2526

Year . 2000 A D.

First Edition, 1100 Copies

Price Fifty Rupees Only

Printed at ·

Ajay Printers & Publishers

19, Civil Lines, Roorkee - 247 667

Phone 01332-73140, Fax 74740

E mail mehta@ndb vsnl net in

प्रकाशकीय

भारतीय दार्शनिक विधा प्रमाणाश्रित है और इसी दृष्टि से भारतीय दर्शन का विकास हुआ है। जैन दार्शनिको मे आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य समन्तभद्र और आचार्य अकलक का नाम गौरव के साथ स्मरण किया जाता है। जहाँ मूल दिगम्बर परम्परा आचार्य कुन्दकुन्द के अवदानो से उपकृत है वहीं न्याय के क्षेत्र मे आचार्य अकलक द्वारा प्रतिष्ठित प्रमाणशास्त्रीय व्यवस्था जैन–दर्शन को सर्वांशत आलोकित करने मे सक्षम व समर्थ सिद्ध हुई है। इस क्रम मे लघीयस्त्रय ग्रन्थ को न्याय–शास्त्र का निकष कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

लघीयस्त्रय–स्वविवृत्ति सहित ग्रन्थ जिसका प्रकाशन माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला के अन्तर्गत सर्वप्रथम हो चुका है, उसके मूल अनुवाद और व्याख्या का गुरुतर कार्य जैन–जगत् के मनीषी विद्वान् सिद्धान्ताचार्य स्व० पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री वाराणासी द्वारा आज से लगभग १२ वर्ष पूर्व किया गया था। कतिपय कारणो से इस महत्त्वपूर्ण कृति का प्रकाशन नहीं हो सका। पूज्य पण्डित जी के सुयोग्य शिष्य श्री डॉ० कमलेशकुमार जैन को जब यह प्रति प्राप्त हुई तो उन्होंने इसके स्वेच्छया सम्पादन का भार ग्रहण किया तथा प्रो० उदयचन्द जैन, वाराणसी, जो जैन दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् हैं उनके परामर्शानुसार इस महत्त्वपूर्ण कृति का आद्यन्त वाचन, टिप्पण एव यथावसर सम्पादन किया। इतना ही नहीं, सन् १९९२ के बम्बई पर्यूषण प्रवास के दौरान इस ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ श्रावको को प्रेरणा की। फलस्वरूप निम्नलिखित श्रावको ने ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ सहर्ष सहायता राशि प्रदान की –

१	श्री चन्द्रप्रभ दि० जैन मन्दिर ट्रस्ट, भूलेश्वर, मुम्बई	११००.००
२	श्री दिगम्बर जैन महिला समाज, मुम्बई	२१५५.००
३	श्री भवरलाल जी ठोलिया, मुम्बई	११११.००

४	श्री शिखरचन्द जी पहाडिया, मुम्बई	११०१ ००
५	श्री धर्मचन्द जी जैन, मुम्बई	११०१ ००
६	श्री कैलाशचन्द जी जैन, मुम्बई	११०१.००
७	श्री फूलचन्द्र जी जैन, मुम्बई	११०१ ००
८	श्री जितेन्द्र कुमार जी जैन, मुम्बई	११०१ ००
६	श्री हरषचन्द जी छावडा, मुम्बई	११०१ ००
१०	श्री कन्हैयालाल चिरजीलाल बक्षी, मुम्बई	११०१ ००
११	श्री दयाचन्द राजेशकुमार, मुम्बई	११०१.००
१२	श्री पीलूलाल जी बाकलीवाल, मुम्बई	११०१ ००
१३	श्री मोहन लाल जी पाटनी, मुम्बई	११०० ००
१४	श्री सुरेशचन्द जी पहाडिया, मुम्बई	११०० ००
१५	श्री छगनलाल जी, मदनलाल जी, मुम्बई	११०० ००
१६	मेसर्स बाहुबली ट्रान्सपोर्ट कार्पोरेशन, मुम्बई	११०० ००
१७	श्री छोटे लाल नन्दकिशोर, मुम्बई	११०१ ००
१८	श्री सुभाषचन्द जी बक्षी, मुम्बई	११०१ ००
१६	श्री सम्पतकुमार जी पाटनी, मुम्बई	११०१ ००
२०	श्री राजेन्द्रकुमार जी चादनाड, मुम्बई	११०१ ००
२१	श्री अजयकुमार, विजयकुमार जी, मुम्बई	१०१ ००
	योग	२३१८० ००

उक्त सभी महानुभाव दातारो के प्रति सस्थान कृतज्ञता व्यक्त करता है। ग्रन्थ–प्रकाशन मे व्यवस्थापन सम्बन्धी अपरिहार्य कारणों से विलम्ब अवश्य हुआ है, जिसके लिए हमे खेद है।

सर्वप्रथम सिद्धान्ताचार्य प० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री के प्रति सस्थान अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता है, जिन्होने अपने सीमान्त वय मे इस महत्त्वपूर्ण

कृति का अनुवाद कर जैन दार्शनिक जगत् के प्रति उपकार किया।

ग्रन्थ को सम्पादित करने के लिए तथा प्रकाशन के निमित्त अग्रिम राशि एकत्र करने में डॉ० कमलेशकुमार जैन, प्राध्यापक, जैनदर्शन, सस्कृतविद्या धर्मविज्ञान सकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय एव सस्थान के मानद मन्त्री के रूप मे जो उपक्रम किया वह अनुकरणीय एव प्रशंसनीय हैं। इससे न केवल वे अपने पूज्य गुरु सिद्धान्ताचार्य स्व०प० कैलाशचन्द्र शास्त्री के यत्किंचित् ऋणभार से मुक्त हुए हैं अपितु जैन दर्शन के अज्ञान–तिमिर को देहली–दीपक न्याय से आलोकित करने का सफल प्रयास किया है। अत उन्हे संस्थान की ओर से साधुवाद एव मगलकामनायें।

सस्थान के तत्कालीन निदेशक डा सुरेश चन्द्र जैन की सक्रियता के परिणामस्वरूप यह ग्रन्थ अब सुधी पाठको के अध्ययन, चिन्तन, मनन हेतु प्रस्तुत है। निश्चित ही यह कृति जैनदर्शन के अध्येताओ के लिए महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शक सिद्ध होगी।

डॉ. अशोक जैन

रुडकी, ३० मई, २०००

मत्री

श्री गणेशवर्णी दिगम्बर जैन सस्थान

वाराणसी–५

प्रस्तावना

आचार्य अकलङ्कदेव :

आचार्य अकलङ्कदेव ईसा की आठवी शती के शास्त्रार्थी विद्वान् हैं। इन्होने अपनी तर्कशक्ति के द्वारा अनेक दार्शनिक मतो का सप्रमाण खण्डन करके जैन न्यायशास्त्र की उस परम्परा को पल्लवित एवं पुष्पित किया है, जो आचार्य समन्तभद्र एव आचार्य सिद्धसेन दिवाकर द्वारा स्थापित की गई थी।

मान्यखेट राजधानी[1] मे जन्मे एवं लघुहव्व नृपति के ज्येष्ठ पुत्र[2] आचार्य अकलङ्कदेव अपने वैदुष्य के कारण तत्कालीन विद्वत्समूह मे धुरिकीर्तनीय थे। उनके द्वारा जैन न्यायशास्त्र की प्रतिष्ठा एव उसके सरक्षण हेतु जो भी प्रयत्न किया गया वह अद्वितीय है। वे कोरे शास्त्रार्थी विद्वान् नही थे, अपितु उन्होने जैनागम परम्परा को सुरक्षित रखते हुये अपनी नवोन्मेष तर्कणा-शक्ति के आधार पर पूर्व प्रचलित ज्ञान-मीमासा को प्रमाण-मीमासा के ढाँचे मे ढालकर जैन सिद्धान्तो के सरक्षण हेतु जो सुरक्षा-कवच प्रदान किया वह जैन न्यायशास्त्र के इतिहास मे दैदीप्यमान सितारे की तरह चिरकाल तक चमकता रहेगा।

अकलङ्क के ग्रन्थ :

आचार्य अकलङ्कदेव ने अपने अगाध ज्ञान के नवनीत रूप कुछ बिन्दुओ को संजोकर अनेक ग्रन्थरत्नो का प्रणयन किया है, जिनमे तत्त्वार्थवार्तिक, अष्टशती, लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय और प्रमाणसग्रह— ये छह कृतियाँ प्रमुख है। इनमे प्रथम दो भाष्य और अन्तिम चार स्वतन्त्र हैं। इनके अतिरिक्त अकलङ्कस्तोत्र अकलङ्क प्रतिष्ठा-पाठ और अकलङ्क प्रायश्चित नामक तीन ग्रन्थ अकलङ्क के नाम से मिलते है, किन्तु इनके शास्त्रार्थी अकलङ्ककृत होने मे विद्वानो मे मतभेद है।[3] एतद् अतिरिक्त बृहत्त्रय एव न्यायचूलिका नामक दो अन्य ग्रन्थो का भी उल्लेख

---

१ अकलङ्कग्रन्थत्रयम्, प्रस्तावना, पृ० ११।

२ जीयाच्चिरमकलङ्कब्रह्मा लघुहव्वनृपतिवरतनय ।

अनवरतनिखिलजननुतविद्य· प्रशस्तजनहृद्य ।।

—तत्त्वार्थवार्तिक, प्रथम अध्याय, अन्तिम प्रशस्ति पद्य।

मिलता है, किन्तु इन्हे भी विद्वानो ने शास्त्रार्थी अकलङ्ककृत स्वीकार नही किया है।[४] माणिकचन्द्र दि जैन ग्रन्थमाला द्वारा वि स १९७२ मे प्रकाशित एवं पण्डित कल्लप्पा भरमाप्पा निटवे द्वारा संशोधित लघीयस्त्रयादिसग्रह नामक सकलन मे स्वरूप संबोधन को भी शास्त्रार्थी अकलङ्कदेव की कृति के रूप मे सग्रहीत किया है।

लघीयस्त्रय :

विभिन्न स्रोतो के माध्यम से उपलब्ध पुष्ट प्रमाणो के आधार पर विद्वानो द्वारा स्वीकृत आचार्य अकलङ्कदेव कृत ग्रन्थो की परम्परा मे लघीयस्त्रय अद्वितीय रचना है। पण्डित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने विविध प्रमाणो के आधार पर लघीयस्त्रय को शास्त्रार्थी अकलङ्कदेव की कृति स्वीकार किया है।[५]

लघीयस्त्रय इस नाम से स्पष्ट है कि यह छोटे-छोटे तीन प्रकरणो का समूह है। ग्रन्थ का यह नामकरण ग्रन्थकारकृत प्रतीत नही होता है। इसका यह नाम सर्वप्रथम आचार्य अनन्तवीर्य की सिद्धिविनिश्चय टीका मे मिलता है।[६] तत्पश्चात् आचार्य अभयचन्द्रसूरि ने "**लघीयस्त्रय तात्पर्यवृत्तिं वक्ष्ये**" और "**भट्टाकलङ्कदेव पोताबमानं लघीयस्त्रयाख्यं प्रारभमाण:**" इन दो सन्दर्भो मे लघीयस्त्रय इस नाम का स्पष्ट उल्लेख किया है।[७]

आचार्य उमास्वामी ने "**प्रमाणनयैरधिगम:**"[८] इस सूत्र के माध्यम से यह स्पष्ट किया है कि तत्त्वो का ज्ञान प्रमाण और नयो के द्वारा किया जाता है। इससे पूर्व आचार्य उमास्वामी ने निक्षेपो[९] को भी तत्त्वज्ञान का हेतु स्वीकार किया है। अत आचार्य प्रभाचन्द्र और आचार्य अभयचन्द्रसूरि— इन दो टीकाकारो ने अकलङ्ककृत प्रमाणनय प्रवेश को दो स्वतन्त्र प्रकरण माना और उसी मे प्रवचन प्रवेश को समाहित

---

३ भट्टाकलककृत लघीयस्त्रय · एक दार्शनिक विवेचन (टकित प्रति) पृ ५७

४. वही, पृ ५७

५ अकलङ्कग्रन्थत्रयम्, प्रस्तावना, पृ. ३३

६ (क) अकलङ्कग्रन्थत्रयम्, प्रस्तावना, पृ ३४

(ख) उक्त च लघीयस्त्रये प्रमाणफलयो क्रमभावेऽपि तादात्म्य प्रत्येयम् ।

— सिद्धिविनिश्चय टीका, प्रथम भाग, पृ ११७/२०

७ लघीयस्त्रय, तात्पर्यवृत्ति, पृ १ (लघीयस्त्रयादिसग्रह)

८ तत्त्वार्थसूत्र, १/६

९ नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यास । —तत्त्वार्थसूत्र, १/५

कर लघीयस्त्रय इस संज्ञा से अभिहित किया, जो बाद मे इसी नाम से प्रसिद्ध हो गया।[10]

इस प्रकार लघीयस्त्रय प्रमाण, नय और निक्षेप—इन तीन प्रकरणो का समूह है। प्रथम प्रमाणप्रवेश प्रत्यक्ष, प्रमेय, परोक्ष और आगम—इन चार परिच्छेदो में विभाजित है। द्वितीय नयप्रवेश स्वतन्त्र एवं एक मात्र नय-परिच्छेद में विभक्त है। तृतीय प्रवचनप्रवेश प्रवचन और निक्षेप—इन दो परिच्छेदो मे विभाजित है। इस प्रकार लघीयस्त्रय मे सकलित तीन प्रकरणो मे कुल सात परिच्छेद हैं। आचार्य अकलङ्कदेव के इस लघीयस्त्रय पर स्वोपज्ञ विवृति भी उपलब्ध है। इसके नामकरण के सम्बन्ध मे प महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने लिखा है कि ग्रन्थ बनाते समय अकलङ्कदेव को लघीयस्त्रय नाम की कल्पना नही थी,[11] जो यथार्थ है।

लघीयस्त्रय का परिमाण :

सिंघी जैन ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित अकलङ्कग्रन्थत्रयम् के *अन्तर्गत संकलित* लघीयस्त्रय मे कुल अठहत्तर कारिकाएँ है और माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित लघीयस्त्रयादिसग्रह मे सतहत्तर कारिकाएँ है। इनमे "**लक्षणं क्षणिकैकान्ते.....,**" नामक पैतीसवी कारिका नही है और न ही इस कारिका पर अभयदेवसूरि ने तात्पर्यवृत्ति लिखी है। जबकि स्वय आचार्य अकलङ्कदेव ने इस पर स्वोपज्ञ विवृति लिखी है। अकलङ्कग्रन्थत्रयम् के अन्तर्गत लघीयस्त्रय के द्वितीय नयप्रवेश के अन्त मे "**मोहेनैव परोऽपि कर्मभिरिह....**" नामक कारिका उपलब्ध है, किन्तु इसकी मूलग्रन्थ के साथ सगति न होने से इसे पं महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने प्रक्षिप्त माना है।[12]

लघीयस्त्रय मे उपलब्ध कुल सात परिच्छेदो के नाम और उनकी कारिकाओ की सख्या इस प्रकार है—

प्रमाणप्रवेश :

प्रत्यक्ष परिच्छेद	६ $\frac{१}{२}$ कारिकाएँ
प्रमेय (या प्रमाण विषय) परिच्छेद	३ कारिकाएँ
परोक्ष परिच्छेद	११ $\frac{१}{२}$ कारिकाएँ

---

१० विशेष ऊहापोह के लिये देखिये—अकलङ्कग्रन्थत्रयम्, प्रस्तावना, पृ ३४-३५

११ अकलङ्कग्रन्थत्रयम्, प्रस्तावना, पृ. ३४

१२ वही, पृ ३५.

आगम परिच्छेद	८ कारिकाएँ
नयप्रवेश :	
नय परिच्छेद	२१ कारिकाएँ
प्रवचनप्रवेश :	
प्रवचन (या श्रुतोपयोग) परिच्छेद	२२ कारिकाएँ
निक्षेप परिच्छेद	६ कारिकाएँ
	७८ कुल कारिकाएँ

यद्यपि आचार्य अकलङ्कदेव द्वारा स्वोपज्ञ विवृति मे अन्तिम निक्षेप परिच्छेद को स्वतन्त्र न मानने से छह ही परिच्छेद है, किन्तु लघीयस्त्रय के टीकाकार प्रभाचन्द्र और अभयचन्द्रसूरि ने सात परिच्छेदो मे ही ग्रन्थ को विभाजित कर टीका लिखी है। अत सात परिच्छेद ही सम्प्रति विद्वानो द्वारा मान्य है।

लघीयस्त्रय की विषयवस्तु :

लघीयस्त्रय मे जिन विषयो की चर्चा की गई है, उनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

प्रथम प्रमाणप्रवेश : प्रथम प्रत्यक्षपरिच्छेद– इस परिच्छेद मे सम्यग्ज्ञान की प्रमाणता, प्रत्यक्ष-परोक्ष का लक्षण, प्रत्यक्ष के सांव्यवहारिक और मुख्य रूप से दो भेद, साव्यवहारिक के इन्द्रियानिन्द्रिय प्रत्यक्ष रूप से भेद, मुख्यप्रत्यक्ष का समर्थन, साव्यवहारिक के अवग्रहादि भेद तथा उनके लक्षण, अवग्रहादि के बह्वादिरूप भेद, भावेन्द्रिय, द्रव्येन्द्रिय के लक्षण, पूर्वपूर्वज्ञान की प्रमाणता मे उत्तरोत्तर ज्ञानो की फलरूपता आदि विषयो का विवेचन किया गया है।

प्रथम प्रमाणप्रवेश : द्वितीय प्रमेय परिच्छेद– इस परिच्छेद मे द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु का प्रमाणविषयत्व तथा अर्थक्रियाकारित्व, नित्यैकान्त तथा क्षणिकैकान्त मे क्रमयौगपद्यरूप से अर्थक्रियाकारित्व का अभाव, नित्य मानने पर विक्रिया तथा अविक्रिया का अविरोध आदि प्रमाण के विषय से सम्बन्ध रखने वाले विचारो का समावेश है।

प्रथम प्रमाणप्रवेश : तृतीय परोक्ष परिच्छेद– इसमे मति, स्मृति, सज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध का शब्दयोजना से पूर्व अवस्था मे मतिव्यपदेश तथा उत्तर अवस्था मे श्रुतव्यपदेश, व्याप्ति का ग्रहण प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा असभव होने से व्याप्तिग्राही तर्क का प्रामाण्य, अनुमान का लक्षण, जलचन्द्र के दृष्टान्त

से कारण हेतु का समर्थन, कृत्तिकोदय आदि पूर्वचर हेतु का समर्थन, अदृश्यानुपलब्धि से भी परचैतन्य आदि का अभावज्ञान, नैयायिकाभिमत उपमान का सादृश्यप्रत्यभिज्ञान में अन्तर्भाव, प्रत्यभिज्ञान के वैसादृश्य आपेक्षिक प्रतियोगी आदि भेदों का निरूपण, बौद्ध मत मे स्वभावादि हेतुओ के प्रयोग मे कठिनता, अनुमानानुमेयव्यवहार की वास्तविकता एव विकल्पबुद्धि की प्रमाणता आदि परोक्षज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले विषयो की चर्चा की गई है।

प्रथम प्रमाणप्रवेश : चतुर्थ आगम परिच्छेद– इसमें किसी भी ज्ञान में ऐकान्तिक प्रमाणता या अप्रमाणता का निषेध करके प्रमाणाभास का स्वरूप, सविकल्पज्ञान मे प्रत्यक्षाभासता का अभाव, अविसंवाद और विसवाद से प्रमाण-प्रमाणाभासव्यवस्था, विप्रकृष्ट विषयो मे श्रुत की प्रमाणता, हेतुवाद और आप्तोक्तरूप से द्विविध श्रुत की अविसंवादि होने से प्रमाणता, शब्दो के विवक्षावाचित्व का खण्डन कर उनकी अर्थवाचकता आदि श्रुत सम्बन्धी बातों का विवेचन किया गया है। इस तरह प्रमाण के स्वरूप, संख्या, विषय और फल का निरूपण कर प्रमाणप्रवेश समाप्त होता है।

द्वितीय नयप्रवेश : पंचम नय परिच्छेद– इसमे नय-दुर्नय के लक्षण, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक रूप से मूलभेद, सत्रूप से समस्त वस्तुओ के ग्रहण का संग्रहनयत्व, ब्रह्मवाद का संग्रहाभासत्व, बौद्धाभिमत एकान्तक्षणिकता का निरास, गुण-गुणी, धर्म-धर्मी को गौण-मुख्य विवक्षा मे नैगमनय की प्रवृत्ति, वैशेषिकसम्मत गुणगुण्यादि के एकान्त भेद का नैगमाभासत्व, प्रामाणिक भेद का व्यवहारनयत्व, काल्पनिक भेद का व्यवहाराभासत्व, कालकारकादि के भेद से अर्थभेद निरूपण की शब्दनयता, पर्यायभेद से अर्थभेदक कथन का समभिरूढ़नयत्व, क्रियाभेद से अर्थभेद प्ररूपण का एवभूतनयत्व, सामग्रीभेद से अभिन्नवस्तु मे भी षट्कारकी का सभव आदि समस्त नयपरिवार का विवेचन है। यहाँ नयप्रवेश समाप्त हो जाता है।

तृतीय प्रवचनप्रवेश : षष्ठ प्रवचन परिच्छेद– इसमे प्रमाण, नय और निक्षेप के कथन की प्रतिज्ञा, अर्थ और आलोक की ज्ञानकारणता का खडन, अन्धकार को ज्ञान का विषय होने से आवरणरूपता का अभाव, तज्जन्य, ताद्रूप्य और तदध्यवसाय का प्रामाण्य मे अप्रयोजकत्व, श्रुत के सकलादेश और विकलादेश रूप से दो उपयोग, 'स्यादस्त्येव जीव.' इस वाक्य की विकलादेशता, 'स्याज्जीव एव' इस वाक्य की सकलादेशता, शब्द की विवक्षा से भिन्न वास्तविक अर्थ की वाचकता, नैगमादि सात नयो मे से आदि के नैगमादि चार नयो का अर्थनयत्व, शब्दादि तीन नयो का शब्दनयत्व और नामादि चार निक्षेपों के लक्षण बतलाये गये हैं।

तृतीय प्रवचनप्रवेश : सप्तम निक्षेप परिच्छेद– इसमे अप्रस्तुत निराकरण तथा प्रस्तुत अर्थ का निरूपण रूप निक्षेप का फल तथा प्रवचन के अधिगमोपायभूत प्रमाण, नय और निक्षेप का निरूपण किया गया है।

लघीयस्त्रय का दार्शनिक वैशिष्ट्य :

लघीयस्त्रय एक दार्शनिक ग्रन्थ है और दर्शन के क्षेत्र मे रचे गये मूल संस्कृत ग्रन्थो की परम्परा मे बेजोड़ है। इसके कुछ दार्शनिक सिद्धान्त आगामिक परम्परा का निर्वाह करते हुये भी अपनी कुछ विशेषता लिये है। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ही आचार्य अकलङ्कदेव ने "प्रमाणे इति सग्रह ' ऐसा वाक्य लिखकर "प्रमाणे" पद मे द्विवचन का प्रयोग किया है। इससे उमास्वामी द्वारा उल्लिखित आगमिक परम्परा का समर्थन किया है कि प्रमाण दो ही है— प्रत्यक्ष और परोक्ष। इनके अतिरिक्त अन्य प्रमाण नही है और यदि किन्ही दार्शनिको ने दो से ज्यादा प्रमाण माने है तो वे सभी इन्ही दो प्रमाणो मे अन्तर्भूत है।

लोक मे जो इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान के रूप मे स्वीकार किया गया है, उससे सगति बैठाने के लिये अकलङ्कदेव ने स्पष्टज्ञान रूप प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद करके इन्द्रियजन्यज्ञान को साव्यवहारिक प्रत्यक्ष की कोटि मे समाहित किया है और लोकमान्यता को प्रतिष्ठा देते हुये इन्द्रियज्ञान को व्यवहार से प्रत्यक्ष प्रमाण माना है और निश्चयनय से तो मुख्य प्रत्यक्ष को ही वस्तुत प्रत्यक्ष प्रमाण कहा है। बौद्धदार्शनिको ने स्वसम्मत प्रत्यक्ष के चार भेदो मे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को भी समाहित किया है।

आचार्य अकलङ्कदेव की दृष्टि इस रूप मे स्पष्ट है कि जो आत्ममात्र सापेक्ष स्वावलम्बी ज्ञान है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है और जो परसापेक्ष ज्ञान है वह परोक्ष प्रमाण है।[१३] उन्होने साव्यवहारिक के भी इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष—ये दो भेद किये है।

आगम मे सामान्य ग्रहण को दर्शन कहा है, किन्तु अकलङ्कदेव के अनुसार इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध होने पर सत्ता समान्य का दर्शन होता है, तत्पश्चात् पदार्थ के आकार को लिये हुये जो निर्णयात्मक ज्ञान होता है उसे अवग्रह कहते हैं। उन्होने मतिज्ञान के उन्ही तीन सौ छत्तीस भेदो का उल्लेख किया है, जो आगमिक परम्परा से प्राप्त है। उनके अनुसार पूर्व-पूर्व का ज्ञान प्रमाण और उत्तर-उत्तर का ज्ञान उसका फल है।[१४]

---

१३ लघीयस्त्रय, कारिका ३

१४ लघीयस्त्रय, कारिका ७

परोक्ष प्रमाण के सम्बन्ध मे आचार्य अकलङ्कदेव का कहना है कि मति, स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान) नाम योजना से पहले सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं तथा शब्द योजना होने पर श्रुत अर्थात् परोक्ष हैं।[१५] तत्त्वार्थसूत्रकार ने मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध को मतिज्ञान के ही पर्यायवाची माना है।[१६] आगमिक परम्परा के अनुसार ये सभी ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं, क्योकि ये सभी इन्द्रियो की सहायता से उत्पन्न होते हैं। इसी को आचार्य कुन्दकुन्द ने इस प्रकार कहा है कि जो पर की सहायता से वस्तु का ज्ञान होता है, वह परोक्ष है और जो केवल आत्मा के द्वारा वस्तु का ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष है।[१७] किन्तु अन्य सभी दार्शनिको ने इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है।

सर्वार्थसिद्धिकार के सामने जब यह प्रश्न उठा कि इन्द्रियजन्यज्ञान को प्रत्यक्ष और इन्द्रियातीत ज्ञान को परोक्ष मानना चाहिये[१८] तो पूज्यपाद को कहना पड़ा कि ऐसी स्थिति मे सर्वज्ञ का ज्ञान प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष हो जायेगा, क्योंकि उनका ज्ञान इन्द्रियजन्य नही है।[१९] इसी आशंका का विशेष समाधान करते हुये आचार्य अकलङ्कदेव ने बतलाया कि न्याय-वैशेषिक, सांख्य, बौद्ध आदि सभी दार्शनिक इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं और जैन आगमिक परम्परा उसे परोक्ष मानती है। अत. अकलङ्कदेव ने इन्द्रियजन्य ज्ञान को साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहकर इस समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है। उन्होने स्पष्ट लिखा है कि— साव्यवहारिक प्रत्यक्ष के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा—ये चार भेद हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि जिसे आगमिक परम्परा मे मतिज्ञान कहा है, उसे ही दार्शनिक परम्परा मे साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा गया है।

अब समस्या यह थी कि तत्त्वार्थसूत्र[२०] और षट्खण्डागम[२१] के अनुसार स्मृति, सज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध— ये मतिज्ञान के ही पर्यायवाची हैं। अत. ये भी साव्यवहारिक प्रत्यक्ष की कोटि मे आ जायेगे? तब आचार्य अकलङ्कदेव ने

---

१५ लघीयस्त्रय, कारिका १०-११

१६. तत्त्वार्थसूत्र, १/१३

१७. प्रवचनसार, १/५८

१८ सर्वार्थसिद्धि १/१२ टीका.

१९ सर्वार्थसिद्धि,१/१२ टीका.

२० *मति स्मृति. सज्ञाचिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् । —तत्त्वार्थसूत्र, १/१३.*

२१ सण्णा सदी मदी चिता चेदि (४१) षट्खण्डागम, पु १३, पृ २४४.

लघीयस्त्रय[२२] मे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष— ये दो भेद करके स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध को अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष की कोटि मे समाहित करके सार्वकालिक समाधान प्रस्तुत किया है। अकलङ्कदेव की इस भेद-व्यवस्था से यह फलित हो गया कि अवग्रहादि मे इन्द्रियो की प्रधानता है, अत. ये इन्द्रिय प्रत्यक्ष हैं और स्मृति आदि में अनिन्द्रिय अर्थात् मन की प्रधानता है। अत. ये अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष हैं।

बौद्ध दार्शनिको ने अनुमान प्रमाण मे पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्ष असत्त्व—इन तीन रूपो को हेतु का लक्षण माना है, किन्तु आचार्य अकलङ्कदेव ने लिखा है कि—साध्य के साथ अविनाभावनियम का पूरी तरह से निश्चय ही हेतु का एकमात्र लक्षण है—

लिङ्गात् साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात् ।[२३]

यहाँ पक्षधर्मत्व आदि तीनो रूप सदोष हेतु मे भी पाये जाने के कारण अकलङ्कदेव ने इन्हे हेतु का लक्षण स्वीकार नही किया है। बौद्ध दार्शनिको ने स्वभाव हेतु, कार्य हेतु एव अनुपलब्धि हेतु—इन तीन को हेतु का भेद मानकर "यत् क्षणिक तत् सर्व सत्" को तादात्म्य सम्बन्ध (स्वभाव हेतु) और धूम एव अग्नि मे तदुत्पत्ति सम्बन्ध (कार्य हेतु) तथा यहाँ घट नहो है, अनुपलब्ध होने से। इस अनुपलब्धि हेतु मे तादात्म्य सम्बन्ध मानकर अपने सिद्धान्त की पुष्टि की है, किन्तु अकलङ्कदेव का कहना है कि— साध्य के अभाव मे साधन का अभाव रूप जो अन्यथानुपपत्ति नियम है उसके बिना तादाम्य और तदुत्पत्ति को जानना भी सम्भव नही है, क्योकि आकाश मे स्थित चन्द्रमा न तो जल मे प्रतिबिम्बित चन्द्रमा का स्वभाव है और न ही कार्य है, फिर भी जल मे प्रतिबिम्बित चन्द्रमा से आकाश मे स्थित चन्द्रमा का अनुमान किया जाता है।[२४] इसी प्रकार आकाश में कृतिका नक्षत्र के उदय से भविष्य मे उदित होने वाले शकट नक्षत्र का अनुमान होता है। आज के सूर्योदय से कल के सूर्योदय का अनुमान होता है और इसी प्रकार सूर्यग्रहण का भी अनुमान होता है। यहाँ आचार्य अकलङ्कदेव ने विस्तार से परमत-सम्मत हेतुओ का विविध तर्कों के माध्यम से खण्डन करके अविनाभाव सम्बन्ध को ही हेतु का सम्यक् लक्षण सिद्ध किया है[२५] तथा अन्य वादियो द्वारा

---

२२ लघीस्त्रय, कारिका ६१ की स्वोपज्ञ विवृति

२३ लघीयस्त्रय, कारिका १२

२४. लघीयस्त्रय, कारिका १३

२५ विस्तार के लिये देखे—लघीयस्त्रय, कारिका १० से २१

माने गये प्रमाण भेदो का प्रत्यक्ष और परोक्ष—इन दो प्रमाणो मे ही अन्तर्भाव किया है।

अनेक दार्शनिकों ने तैमरिक आदि इन्द्रियज्ञान को प्रत्यक्षाभास कहा है, किन्तु अकलङ्कदेव ने इसे कथंचित् प्रत्यक्ष कहते हुये स्पष्ट किया है कि जो ज्ञान जिस विषय मे अविसंवादी होता है वह उस विषय मे प्रमाण होता है और जिस विषय में विसवादी होता है उस विषय मे अप्रमाण होता है।[२६] अर्थात् संशयज्ञान आदि सभी प्रमाणाभास स्वरूप अथवा द्रव्य की अपेक्षा से प्रमाण हैं, क्योंकि वे उतने अंश मे अविसंवादी हैं। अत· अविसवादी होने से सविकल्पकज्ञान ही प्रमाण है।[२७]

प्रमाण का विषय :

प्रमाण के विषय के सम्बन्ध मे आचार्य अकलङ्कदेव का स्पष्ट मत है कि द्रव्यपर्यायात्मक अन्तस्तत्त्व और बाह्य घटादि रूप अर्थ प्रमाण के विषय हैं। क्योंकि कोई दार्शनिक केवल द्रव्य रूप तत्त्व मानते हैं। कोई-कोई पर्याय रूप तत्त्व मानते है और कोई द्रव्य रूप और पर्याय रूप तत्त्वो को मानकर भी दोनो को सर्वथा भिन्न ही मानते है। उन्ही को लक्ष्य मे रखकर अकलङ्कदेव ने अर्थ को द्रव्यपर्यायात्मा कहा है—

"तद् द्रव्यपर्यायात्मार्थो बहिरन्तश्च तत्त्वतः।"[२८]

बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने लिखा है कि "अर्थक्रिया समर्थं यत् तदत्र परमार्थ सत्"[२९] अर्थात् जो अग्न्यादि पदार्थ अपनी दाह-पाक आदि रूप क्रिया मे समर्थ होता है, उसे पारमार्थिक सत् कहते है। यहाँ अकलङ्कदेव का कहना है कि— अर्थक्रिया या तो क्रम से होती है या अक्रम से अर्थात् युगपत् होती है, किन्तु वस्तु को सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक मानने पर न तो क्रम से ही अर्थक्रिया होना सम्भव है और न अक्रम से ही अर्थक्रिया होना सम्भव है। जबकि उस अर्थक्रिया को परमार्थभूत का लक्षण माना गया है।

अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयो·।
क्रमाक्रमाभ्यां भावानां सा लक्षणतया मता।।[३०]

---

२६ लघीयस्त्रय, कारिका २२

२७ लघीयस्त्रय, कारिका २३-२४

२८ लघीयस्त्रय, कारिका ७

२९ प्रमाणवार्तिक, २/३

३० लघीयस्त्रय, कारिका ८

इस प्रसंग में आचार्य अकलङ्कदेव का कहना है कि—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप परिणमन वाले पदार्थ मे ही अर्थक्रिया सम्भव होने से द्रव्यपर्यायात्मक अर्थ ही प्रमाण का विषय है।[31] वस्तु को कथंचित् भेदाभेदात्मक, कथंचित् नित्यानित्यात्मक और कथचित् सदसदात्मक ही मानना चाहिये, तभी उसमें अर्थक्रिया सम्भव है।

नय व्यवस्था :

द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु मे जो भेद और अभेद विषयक अभिप्राय हैं, उन्हे जब दार्शनिक अपने-अपने अभिप्राय को स्वीकार करते हुये दूसरे के अभिप्राय का निराकरण नही करते हैं तब वे नय कहलाते हैं और जब वे दूसरे के अभिप्राय का निराकरण करते हुये अपने ही एकाकी अभिप्राय को वस्तु का पूर्ण स्वरूप मानते हैं तब वे नय न होकर नयाभास अथवा मिथ्यानय कहलाते हैं। इसी को समन्तभद्राचार्य ने— "निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तुतेऽर्थकृत्"[32] के रूप मे प्रतिपादित किया है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेद से नय दो प्रकार का है। द्रव्यार्थिक नय के सग्रह, नैगम और व्यवहार— ये तीन भेद है और पर्यायार्थिक नय के ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ तथा एवम्भूत— ये चार भेद है। यहाँ अकलङ्कदेव ने विभिन्न दार्शनिको द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो को पर के अभिप्राय का निराकरण करके केवल अपने अभिप्राय को वस्तु का सर्वथा स्वरूप स्वीकार करने के कारण विभिन्न नयाभासो मे गर्भित किया है। उनके अनुसार वेदान्तियो का ब्रह्माद्वैतवाद सन्मात्र तत्त्व के जीवादि भेदों का निराकरण करता है। अत वह सग्रह नयाभास है।[33] नैयायिक-वैशेषिक गुण-गुणी और अवयव-अवयवी मे अत्यन्त भेद मानते हैं, जबकि वे सर्वथा भिन्न नही है, अपितु किसी अपेक्षा से वे अभिन्न भी हैं। अत वे भी नैगमाभास कहे जा सकते है।

नयों का क्रम भेद :

सामान्य रूप से आगमिक-परम्परा मे नयो के क्रम मे सर्वप्रथम नैगम नय का उल्लेख किया गया है, किन्तु अकलङ्कदेव ने सग्रह नय को प्रथम स्थान दिया है।[34] इसका कारण यह है कि आगमिक-परम्परा मे जो नयो का क्रम निर्धारित किया गया है, वह विषय की उत्तरोत्तर सूक्ष्मता एव पूर्व-पूर्व का नय उत्तर-उत्तर

---

३१. लघीयस्त्रय, कारिका ७

३२. आप्तमीमासा, कारिका १०८

३३ लघीयस्त्रय, कारिका ३८ एव ६९

३४ लघीयस्त्रय, कारिका ३२

नय में हेतु होने रूप दो दृष्टियो से व्यवस्थित है, किन्तु न्यायशास्त्र मे समस्त नास्तिकों के विवादों का निराकरण करने के लिये समस्त पदार्थों के अस्तित्व के सूचक संग्रह नय को प्रथम स्थान दिया है।[35]

आचार्य अकलङ्कदेव के अनुसार स्व और पर का ज्ञान प्रमाण है। जानने का नामादि रूप उपाय निक्षेप है। ज्ञाता का अभिप्राय नय है और युक्ति अर्थात् प्रमाण, नय और निक्षेप के द्वारा ही पदार्थों का ग्रहण होता है—

ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरुपायो न्यास इष्यते।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः।।[36]

नैयायिको ने इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष को ही ज्ञान की उत्पत्ति मे साधकतम माना है, किन्तु अकलङ्कदेव का कहना है कि—इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष आदि के होते हुये भी जब तक ज्ञान उत्पन्न नही होता है तब तक सन्निकर्ष की, सन्निकर्ष और ज्ञान के अन्वय-व्यतिरेक की तथा इन्द्रिय और सन्निकर्ष एवं सन्निकर्ष और ज्ञान के कार्यकारणभाव की व्यवस्था नही हो सकती है। अत साधकतम होने से ज्ञान ही प्रमाण है।[37] यहाँ ज्ञान की उत्पत्ति का नियामक कर्मावरण का क्षयोपशम कहा गया है।[38] उनके अनुसार श्रुत के स्याद्वाद और नय— ये दो उपयोग अथवा व्यापार होते हैं। स्याद्वाद सकलादेशी है अर्थात् अनेक धर्मात्मक वस्तु का सर्वदेश कथन करता है और नय विकलादेशी है, यह वस्तु का एक देश कथन करता है—

उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ।
स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसङ्कथा।।[39]

आचार्य अकलङ्कदेव ने स्याद्वाद पद मे प्रयुक्त स्यात् पद का प्रयोग न करने पर भी कुशल वक्ता के द्वारा प्रयुक्त वाक्य मे स्यात् पद एव एवकार पद की प्रतीति स्वत मानी है। वे लिखते है—

अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र स्यात्कारोऽर्थात् प्रतीयते।
विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र कुशलश्चेत् प्रयोजकः।।[40]

---

३५. लघीयस्त्रय, कारिका ३८

३६ लघीयस्त्रय, कारिका ५५

३७ लघीयस्त्रय, कारिका ५५

३८ लघीयस्त्रय, कारिका ५७

३९ लघीयस्त्रय, कारिका ६२

४० लघीयस्त्रय, कारिका ६३.

इस प्रकार आचार्य अकलङ्कदेव ने नयो के सग्रह मे भी पूर्व आगमिक-परम्परा का समर्थन करते हुये सप्त नयो का उल्लेख किया है। उनमे से जीव-अजीव आदि मे अर्थों का आलम्बन लेने से प्रारम्भिक चार अर्थनय हैं और सत्यभूत काल, कारक, लिङ्ग आदि भेद के वाचक पदविद्या अर्थात् व्याकरणशास्त्र का आलम्बन लेने से शेष तीन नय शब्दनय है।[४१]

इस प्रकार आचार्य अकलङ्कदेव ने अपने लघीयस्त्रय मे विभिन्न दार्शनिक मतो की समीक्षा की है तथा आगमिक-परम्परा को सुरक्षित रखते हुये अपने तर्कों के माध्यम से जैन न्यायशास्त्र की ऐसी प्रतिष्ठा की है, जो आज भी विद्वानो के लिये मार्गदर्शक है।

प्रस्तुत अनुवाद :

आचार्य अकलङ्कदेवकृत लघीयस्त्रय का प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद कई वर्षों पूर्व जैन जगत् के मूर्धन्य मनीषी सिद्धान्ताचार्य प कैलाशचन्द्र शास्त्री (अधिष्ठाता-स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी) ने अपने जीवन की गोधूलि बेला मे किया था। मूल कारिकाओ के अनुवाद के साथ ही पूज्य पण्डितजी ने विशेषार्थ के माध्यम से लघीयस्त्रय के हार्द को प्रकट करने का प्रयास किया है। बीच-बीच शङ्काओ को उपस्थित कर उनका समुचित समाधान भी प्रस्तुत किया है, जिससे ग्रन्थ की उपयोगिता और भी बढ़ गई है।

परिशिष्ट संयोजन :

पाठको की सुविधा की दृष्टि से ग्रन्थ के अन्त मे जैनदर्शन के पारिभाषिक शब्दो का सकलन करके उनकी परिभाषाओ को यथाग्रन्थ प्रस्तुत किया है तथा कारिकानुक्रमणिका भी दे दी गई है।

आभार प्रदर्शन :

लघीयस्त्रय को सुसम्पादित करके इस रूप मे प्रस्तुत करते हुये मुझे हार्दिक सन्तोष हो रहा है, किन्तु इस अवसर पर स्व० पूज्य पण्डित जी का पुन पुन स्मरण आ रहा है, जिन्होने अपनी जीवितावस्था मे मुझे इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि सौपकर इसे सम्पादित एव प्रकाशित करने का अवसर प्रदान किया है। आज उनकी स्मृति मे यह अर्घ्य उन्हे ही समर्पित है।

---

४१ चत्वारोऽर्थनया ह्येते जीवाद्यर्थव्यपाश्रयात् ।
त्रय शब्दनया सत्यपदविद्या समाश्रिता ।।
—लघीयस्त्रय, कारिका ७२

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन मे विषयगत कठिनाइयो का समाधान करने मे भारतीय दर्शनो के निष्णात विद्वान् आदरणीय प्रो० उदयचन्द्र जी जैन (पूर्व दर्शनविभागाध्यक्ष, सस्कृतविद्या धर्मविज्ञान सङ्काय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी) का अनन्य सहयोग मिला है। अत मै उनके प्रति हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। सांख्य-योग के युवा विद्वान् एव मेरे अभिन्न मित्र डॉ० कृष्णकान्त शर्मा ने सस्कृत व्याकरण-सम्बन्धी कठिनाइयो का समाधान कर मेरा मार्ग प्रशस्त किया है। अत मैं उनका भी हृदय से आभारी हूँ।

इसी क्रम मे आदरणीय प्रो. राजाराम जैन (आरा), प्रो. गोकुलचन्द्र जैन, प्रो डॉ सुदर्शनलाल जैन, डॉ सूर्यप्रकाश व्यास, डॉ फूलचन्द्र जैन प्रेमी, डॉ सुरेशचन्द्र जैन (सभी वाराणसी), आदरणीय बड़े भैया अमरचन्द्र जैन (सतना) और प्रो. अशोककुमार जैन (रूड़की) ने भी मेरा विविध प्रकार से श्लाध्य सहयोग किया है। अत इन सभी को मै हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

आर्थिक सहयोग :

सन् १९९२ के पर्यूषण पर्व मे मैं चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन मन्दिर, भूलेश्वर, बम्बई के आमन्त्रण पर बम्बई गया था, वहाँ क्षमावणी के दिन मेरे निवेदन पर उक्त मन्दिर के ट्रष्टी श्रीमान् धर्मचन्द्र जी जैन, सी ए एव पुस्तकालय सयोजक श्रीमान् मूलचन्द जी पाटनी ने समाज के श्रीमन्तो से सम्पर्क करके लगभग २३,००० (तेइस हजार) रुपये की राशि एकत्रित कर प्रस्तुत ग्रन्थ का मूल्य कम करने हेतु भिजवाई थी। अत. जिनवाणी भक्त उक्त दोनो महानुभावो एव बम्बई जैन समाज के श्रद्धालु श्रावको को मैं हृदय से धन्यवाद देता हूँ। ग्रन्थ प्रकाशन के क्षणो मे मै श्री पवनकुमार जी जैन की स्व० पूज्य माताजी (धर्मपत्नी श्रीमान् सेठ लालचन्द्र जी जैन, चौथा माला, बी ६, जय हिन्द बिल्डिग, भूलेश्वर, बम्बई) तथा हैदराबाद विमान दुर्घटना मे स्वर्गवासी युवा दम्पती एवं सुप्रसिद्ध उद्योगपति स्व० पी०यू० जैन और उनकी धर्मपत्नी के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ, जिनका अनन्य सहयोग मुझे उक्त अवसर पर राशि एकत्रित करने मे मिला था।

निर्वाण भवन
बी० २/२४९, लेन न० १४
रवीन्द्रपुरी, वाराणसी-२२१००५
श्रुत पञ्चमी, १० जून १९९६

डॉ० कमलेश कुमार जैन
जैनदर्शन-प्राध्यापक
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी (उ०प्र०)

श्रीमद् भट्टाकलङ्कदेव विरचित

लघीयस्त्रय

हिन्दी-अनुवाद सहित

प्रथम प्रमाणप्रवेश : प्रथम प्रत्यक्षपरिच्छेद

न्यायशास्त्र रूपी समुद्र अत्यन्त गम्भीर है, उसके गर्भ मे अपरिमित प्रमेय रूप मणियाँ वर्तमान हैं। जो अल्पबुद्धि हैं, उनके लिये वह दुःखग्राह्य है, उसमें उनका अवगाहन करना बहुत कठिन है। इसलिये हित-अहित का भेदज्ञान कराने के लिये प्रवचन के अर्थ का उद्धार करके प्रतिपादन करने के इच्छुक भगवान् भट्टाकलङ्कदेव, जो समस्त तार्किको के द्वारा नमस्करणीय हैं, न्यायशास्त्र रूपी समुद्र का अवगाहन करने के लिये जहाज के समान **लघीयस्त्रय** नामक ग्रन्थ को प्रारम्भ करते हुए उसके आदि में निर्विघ्नता आदि चार फलों से युक्त परम मङ्गल करते हैं।

धर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमो नमः।
वृषभादिमहावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये ॥१॥

अर्थ— धर्मतीर्थ के प्रवर्तक तथा स्याद्वाद सिद्धान्त के पुरस्कर्ता आदि तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थङ्करों को स्वात्मा की प्राप्ति के लिये बारम्बार नमस्कार हो ॥१॥

विशेषार्थ— प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर को बारम्बार नमस्कार हो। क्योकि जिनेन्द्रदेव को नमस्कार करना ही परम मङ्गल है। उसी से मलगालन रूप तथा पुण्य की प्राप्ति रूप फल की निष्पत्ति होती है। मल अर्थात् पाप का जो गालन करता है, विनाश करता है या मङ्ग अर्थात् पुण्य को जो लाता है उसे मङ्गल कहते हैं। मङ्गल शब्द की यही व्युत्पत्ति पूर्व आचार्यों ने की है। यहाँ शङ्का हो सकती है कि जिनेन्द्र भगवान् की तरह बुद्ध आदि को भी नमस्कार करना मङ्गलरूप है, अतः उन्हें नमस्कार क्यों नहीं किया गया? इस आशङ्का से प्रेरित होकर ग्रन्थकार ने 'धर्मतीर्थकर' विशेषण दिया है।

धर्मतीर्थ के अनेक अर्थ हैं— धर्म ही तीर्थ धर्मतीर्थ, धर्म का प्रतिपादक तीर्थ धर्मतीर्थ या धर्म के प्रवर्तन के लिए तीर्थ धर्मतीर्थ अर्थात् प्रवचन या परमागम। उसे जो करते हैं अर्थात् स्वय साक्षात् करके उसका कथन करते है 'धर्मतीर्थंकर' हैं। वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते है और व्यवहारनय से उसके साधक उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम सयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिञ्चन्य तथा उत्तम ब्रह्मचर्य को धर्म कहते है। तथा शुभकर्म रूप जीव के परिणामो को और उनका निमित्त पाकर बँधने वाले शुभकर्म रूप पुद्गल परिणामो को भी धर्म कहा जाता है। वह धर्म ही तीर्थ है, क्योंकि ससार समुद्र से पार उतरने मे वह सहायक है। जो ससार से पार उतरने मे कारण हैं, उन उत्तम क्षमादि को धर्मतीर्थ कहने मे कोई विरोध नही है। तथा धर्म के प्रतिपादक को भी धर्मतीर्थ कहने मे कोई विरोध नही है, क्योकि प्रवचन जीवादि तत्त्वों के स्वरूप का प्रतिपादक है। धर्म के लिये तीर्थ को भी धर्मतीर्थ कह सकते है, क्योकि परमागम के अभ्यास से जहाँ नवीन पुण्य का आस्रव होता है वहाँ पाप का निरोध भी होता है। अत अपना हित चाहने वालो को भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर पर्यन्त अर्हन्तो को ही नमस्कार करना चाहिये, क्योकि वे ही धर्मतीर्थकर है। जो अर्हन्त नही होता, वह धर्मतीर्थकर नही होता, जैसे बाजार मे घूमता हुआ साधारण मनुष्य। यत ये धर्मतीर्थकर है, अत वे ही नमस्कार करने के योग्य है। इस निश्चित अविनाभाव नियम रूप लक्षण वाले हेतु से साध्य की सिद्धि मे कोई बाधा नही है।

शङ्का— आपका धर्मतीर्थकर हेतु अनैकान्तिक है, क्योकि जो अर्हन्त नही है ऐसे बुद्ध आदि मे भी वह पाया जाता है। बुद्ध आदि के अनुयायी भी उन्हे अपने इष्ट धर्म और आगम का प्रतिपादक होने से धर्मतीर्थकर कहते है ?

समाधान— इसी से उनका व्यवच्छेद करने के लिये ग्रन्थकार ने स्याद्वादी विशेषण लगाया है। स्यात् का अर्थ कथञ्चित् या अपेक्षा भेद से जो वस्तु को सत्-असत् आदि अनेक धर्मात्मक कथन करते हैं वे स्याद्वादी हैं। जो अर्हन्त नही है वे स्याद्वादी भी नही हैं। अत. वे धर्मतीर्थकर नही हो सकते, क्योंकि वे सर्वथा क्षणिक या सर्वथा नित्य आदि एकान्तवाद का कथन करते है और ऐसा कथन करने वाला धर्मतीर्थ का कर्त्ता नही हो सकता। अत ग्रन्थकार ने धर्मतीर्थ के कर्त्ता और स्याद्वाद के पुरस्कर्त्ता भगवान् ऋषभादि तीर्थङ्करों को ही नमस्कार किया है, उन्ही से नमस्कार करने वाले को

अनन्तज्ञानादि स्वरूप आत्मा की उपलब्धि या सिद्धि प्राप्त होती है । **आचार्य पूज्यपाद** ने **सिद्धभक्ति** में स्वात्मा रूप उपलब्धि को ही सिद्धि कहा है । ज्ञानावरण आदि कर्ममल के विनाश पूर्वक अनन्त ज्ञानादि स्वरूप का लाभ ही मङ्गल का यथार्थ फल है ॥१ ॥

शङ्का— सर्वथा एकान्तवादी बुद्ध आदि भी धर्मतीर्थंकर हो सकते है, उनके होने में कोई बाधक प्रमाण नही है, क्योंकि उनके तीर्थ में भी प्रमाण आदि का लक्षण पाया जाता है ।

उक्त आशङ्का का निराकरण करते हुए ग्रन्थकार स्याद्वादमार्ग के कॉटों को दूर करते है—

सन्तानेषु निरन्वयक्षणिकचित्तानामसत्स्वेव चेत्,
तत्त्वाहेतुफलात्मनां स्वपरसङ्कल्पेन बुद्धः स्वयम् ।
सत्त्वार्थं व्यवतिष्ठते करुणया मिथ्याविकल्पात्मकः,
स्यान्नित्यत्ववदेव तत्र समये नार्थक्रिया वस्तुनः ॥२ ॥

अर्थ— जिनमें परस्पर में वास्तविक कार्यकारणभाव नही है, ऐसे निरन्वय-परस्पर मे सर्वथा विलक्षण क्षणिक चित्तों की सन्तानों के नही होने पर भी यदि बुद्ध स्व और पर के संकल्प से प्राणियों के उद्धार के लिये करुणाबुद्धि से स्वय ठहरता है तो वह मिथ्या विकल्प रूप ही है । अत नित्यवादी ईश्वरादि की तरह क्षणिकवादी बौद्धमत मे भी वस्तु की अर्थक्रिया नही बनती (कही पर 'वस्तुन' के स्थान पर 'वस्तुत.' पाठ भी है, अतः वास्तव में अर्थक्रिया नही बनती) ॥२ ॥

विशेषार्थ— **अकलङ्कदेव** के समय में बौद्धमत का बहुत जोर था, अत उन्होंने उक्त कथन उसी को मुख्यरूप से लक्ष्य में रखकर किया है । बौद्धदर्शन चार है — सर्वास्तिवाद (वैभाषिक), सौत्रान्तिक, विज्ञानवाद (योगाचार) और शून्यवाद (माध्यमिक) । सर्वास्तिवाद के अनुसार बाह्य जगत् प्रत्यक्ष का विषय है । यह प्रकृति और मन की स्वतत्र सत्ता मानता है । प्रकृति की प्रत्यक्ष उपलब्धि मन से होती है । सौत्रान्तिक भी बाह्य जगत् की सत्ता मानते हैं, किन्तु उनके मतानुसार यह जगत् प्रत्यक्ष का विषय नही है । किन्तु चूकि बाह्य वस्तुओ के बिना पदार्थों का मन में अवभास नही होता, इसलिये हम बाह्य वस्तुओं की सत्ता को अनुमान से जानते हैं । विज्ञानवाद के अनुसार ज्ञान के समस्त विषय मन के विकल्प हैं । यह बाह्यार्थ का निषेध करता है । रूपादि

अर्थ के बिना ही रूपादि विज्ञान उत्पन्न होता है। यह विज्ञान ही अर्थ के रूप मे अवभासित होता है। वस्तुत अर्थ असत् है। यह वैसे ही है जैसे तैमिरिक रोगी असत्कल्प केश-चन्द्रादि का दर्शन करता है। अर्थ की सत्ता नही है। शून्यवादी ग्राह्य-ग्राहक दोनों की सत्ता नही मानता। इस तरह सर्वास्तिवादी विज्ञान और विज्ञेय दोनों को द्रव्यसत् मानते हैं। किन्तु शून्यवादी विज्ञान और विज्ञेय दोनों को परमार्थसत् नही मानते, केवल सवृतिसत् मानते है। और विज्ञानवादी केवल चित्त-विज्ञान को द्रव्यसत् मानते है। चित्त, मनस्, विज्ञान और विज्ञप्ति एकार्थक है। विज्ञानवादियो के अनुसार परिकल्पित आत्मोपचार और धर्मोपचार मिथ्या है, वे केवल विज्ञान और विज्ञप्ति के परिणमन मात्र है। केवल एक चित्त-चैत् ही वस्तुसत् है। तथा उक्त सभी बौद्धदर्शन क्षणभङ्गवादी, अनीश्वरवादी और अनात्मवादी है। बौद्धमतानुसार किसी वस्तु के अस्तित्व का अर्थ है उसकी क्षणिकता। क्योकि वस्तु की सत्ता का निश्चय उसकी अर्थक्रियाकारिता से होता है। और अर्थक्रिया प्रतिक्षण मे नयी-नयी होती है, अत वस्तु भी प्रतिक्षण अपूर्व-अपूर्व होती है। इसलिये सत्त्व के साथ क्षणिकत्व की व्याप्ति है। इस तरह विज्ञानवाद मे चित्त को क्षणिक माना गया है तथा क्षणिक होने पर भी उन चित्तो की सन्तान मानी गई है। अर्थात् प्रथम चित्तक्षण का निरन्वय नाश होने पर भी द्वितीय चित्तक्षण उत्पन्न होता है और द्वितीय चित्तक्षण के नाश होने पर तृतीय चित्तक्षण उत्पन्न होता है। इस तरह कार्यकारणभाव रूप से प्रवृत्त क्षणपरम्पराओ के प्रवाह का नाम ही सन्तान है, यह सन्तान कोई एक परमार्थसत् वस्तु नही है।

बौद्धमत[१] की उक्त मान्यता को दृष्टि मे रखकर **अकलङ्कदेव** कहते है कि आपके द्वारा माने गये निरन्वय क्षणिक चित्तो मे परमार्थ से कार्यकारणभाव नही बनता, क्योकि पूर्वक्षण का निरन्वय नाश हो जाने पर ही द्वितीय क्षण उत्पन्न होता है। तथा उनकी जो सन्तान मानी गई है वह भी वस्तुभूत नही है। ऐसी स्थिति मे जो **बौद्धो** के महायान पन्थ मे यह माना गया है कि बुद्ध[२] करुणाबुद्धि से निर्वाणलाभ करने पर भी प्राणियो

---

१ 'सन्तानो नाम न कश्चिदेक परमार्थसन् सभवति। कि तर्हि कार्यकारणभावप्रवृत्तक्षणपरम्परा-प्रवाहरूप एवायम् ततो व्यतिरिक्तस्यानुपलम्भात्। तस्मादेतेषामेव क्षणानामेकपदेन प्रतिपादनाय सकेतो कृतो बुद्धैर्व्यवहारार्थं सन्तान इति।'

— बोधिचर्यावतार, ८/१०१, पृ १५८।

२ "निर्वाणेऽपि परे प्राप्ते कृपाद्रीकृतचेतसाम्।
तिष्ठन्त्ये पराधीन येषां तु महती कृपा॥"

— न्यायकुमुदचन्द्र, भाग– १, पृ.५ से उद्धृत॥

का उपकार करने के लिये सदा स्थिर रहते हैं यह मान्यता ठीक नही है, अत. जैसे सर्वथा नित्यत्ववाद में अर्थक्रिया नहीं बनती है वैसे ही सर्वथा क्षणिकवाद में भी अर्थक्रिया नही बनती। इसलिये जैसे सर्वथा नित्यता असत्य होने से उसके प्रतिपादक ईश्वर, कपिल, ब्रह्म आदि धर्मतीर्थकर नही है, वैसे ही बुद्ध भी नही है, क्योकि ज्ञानाद्वैतवाद मे अद्वैत रूप वस्तु का बोध नही होता तथा शून्यवाद मे हेय-उपादेय का त्याग और ग्रहण सम्भव नही है, क्योंकि अप्रमाण से व्यवस्था नही बन सकती। क्षणिक आदि एकान्तवाद किस प्रकार मिथ्या है इसका कथन ग्रन्थकार आगे स्वय करेगे ॥२ ॥

इस प्रकार कण्टक शुद्धि करके ग्रन्थकार सम्बन्ध, अभिधेय, शक्यानुष्ठान और इष्ट प्रयोजन के निर्देशपूर्वक प्रमाण के लक्षण और भेद का ज्ञान कराने के लिये आगे का कथन करते है—

प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः ।
परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणे इति सङ्ग्रहः ॥३ ॥

अर्थ — स्पष्ट ज्ञान को **प्रत्यक्ष** कहते है। उसके दो भेद है— मुख्य प्रत्यक्ष और साव्यवहारिक प्रत्यक्ष। शेष ज्ञान परोक्ष है। इस प्रकार सूत्रकार ने '**तत्प्रमाणे**' सूत्र मे प्रमाण के सब भेदो का सग्रह किया है ॥३ ॥

विशेषार्थ— शिष्य चार प्रकार के होते है— व्युत्पन्न, अव्युत्पन्न, सदिग्ध और विपर्यस्त। इनमे से प्रथम और चतुर्थ प्रकार के शिष्यों को उपदेश नही देना चाहिये, क्योकि उन्हे जानने की इच्छा नही है। अव्युत्पन्न को लोभ या भय आदि के द्वारा जानने की इच्छा उत्पन्न करके उपदेश देना चाहिये, पढ़ाना चाहिये। सन्देह में पड़ा हुआ व्यक्ति जब अपना सन्देह निराकरण करने के लिये प्रश्न करे तो उसे व्युत्पन्न बनाना चाहिये। इस तरह इन दो प्रकार के श्रोताओं या जिज्ञासुओ को लक्ष्य करके ग्रन्थकार प्रमाण का उद्देश, लक्षण और परीक्षा का कथन करते हैं, क्योंकि शास्त्र की प्रवृत्ति के तीन प्रकार है। उनमें से वस्तु के नाम मात्र कहने को **उद्देश** कहते हैं। उद्दिष्ट वस्तु के असाधारण स्वरूप के कथन को **लक्षण** कहते हैं। प्रमाण के बल से उस लक्षण के विवादो के दूर करने को **परीक्षा** कहते हैं। यहाँ 'प्रमाण' यह उद्देश है, सर्वशून्यवादी भी प्रमाण के बिना अपने इष्ट तत्त्व का साधन और अनिष्ट तत्त्व में दूषण नही कर सकता, अत प्रमाण की स्वीकृति सर्वत्र सिद्ध है। प्रमाण ज्ञान ही होता है, यह प्रमाण के लक्षण का निर्देश

है । इसमें अव्याप्ति आदि दोष नही है, अन्यथा वह प्रमाण नही हो सकता, यह हेतुवादरूप परीक्षा है । इससे उसके लक्षण मे आगत विवादो का निराकरण होता है । इसका खुलासा इस प्रकार है— प्र अर्थात् प्रकर्ष से सशय, विपर्यास और अनध्यवसाय को दूर करके 'मिमीते' अर्थात् स्व पर स्वरूप को जो जानता है या जिसके द्वारा जाना जाता है, या जो जानना है, उसे **प्रमाण** कहते है । यह प्रमाण शब्द की व्युत्पत्ति है ।

निश्चयनय से द्रव्य और पर्याय में अभेद है और व्यवहारनय से भेद है । अभेद की विवक्षा में कर्तृसाधन होता है, जो जानता है वही प्रमाण है और भेद की विवक्षा मे करणसाधन होता है, जिसके द्वारा जानता है, वह प्रमाण है । निश्चयनय से आत्मा और ज्ञान में भेद नही है, अत आत्मा ही प्रमाण है और व्यवहारनय से आत्मा और ज्ञान मे भेद है, अत आत्मा ज्ञान के द्वारा जानता है । यहाँ आत्मा कर्त्ता और ज्ञान करण है, अत ज्ञान ही प्रमाण है । अज्ञान के द्वारा सशय आदि को दूर नही किया जा सकता, क्योंकि अज्ञान का और सशय आदि का परस्पर मे विरोध नही है । जो जिसका विरोधी होता है, वही उसका व्यवच्छेदक-दूर करने वाला होता है, जैसे प्रकाश अन्धकार का व्यवच्छेदक है । अज्ञान रूप सन्निकर्ष आदि अज्ञान के व्यवच्छेदक नही है, अत वे प्रमाण कैसे हो सकते है ?

नैयायिक, वैशेषिक आदि इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष (सम्बन्ध) को प्रमाण मानते है, क्योकि उसी से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, अत वे ज्ञान को प्रमाण न मानकर ज्ञान के साधनो को प्रमाण मानते है । जैसे चक्षु का रूप के साथ सयुक्त-समवाय सम्बन्ध है, क्योकि चक्षु से सयुक्त घट मे रूप समवाय सम्बन्ध से रहता है । किन्तु उसी घट मे रस भी वर्तमान है और रूप की तरह रस के साथ भी चक्षु का सयुक्त-समवाय नामक सन्निकर्ष है, फिर भी चक्षु से रस का ज्ञान नही होता । तथा चक्षु का भी रूप के साथ सन्निकर्ष नही होता, क्योकि चक्षु पदार्थ को छूकर नही जानती, दूर से जानती है, अत वह अप्राप्त अर्थ की प्रकाशक है । देखा जाता है कि न तो चक्षु ही पर्वत आदि पदार्थो के पास जाती है और न पदार्थ ही चक्षु के समीप जाते हैं, दोनो ही अपने-अपने योग्य देश मे स्थित रहते है, तब कैसे चक्षु का पदार्थ के साथ सयोग सम्बन्ध सम्भव है ? शायद कहा जाये कि चक्षु तैजस है, उससे किरणे निकलकर पदार्थ के साथ सयोग करती है ? किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नही है, क्योकि प्रथम तो चक्षु तैजस नही है, क्योकि तैजस का लक्षण गरमपना है, किन्तु चक्षु (आँख) के स्थान मे गरमपने का

अनुभव नही होता । दूसरे तैजस के सम्बन्ध से अन्धकार तो दूर हो सकता है, सशय आदि दूर नही हो सकते, क्योकि तैजस का सशय आदि से कोई विरोध नही है, यह हम ऊपर कह आये है । अत॰ सन्निकर्ष प्रमाण नही है, क्योकि वह अचेतन है, जैसे घट ।

कुछ वादी कारकसाकल्य को प्रमाण मानते है । समस्त कारको के साकल्य (सम्पूर्णता) को **कारकसाकल्य** कहते हैं । किन्तु कारकसाकल्य भी प्रमाण नही हो सकता, क्योकि वह भी अचेतन है । दूसरे कारकसाकल्य को प्रमाण मानने पर कर्त्ता, कर्म आदि का भेद न होने से प्रमाण निरालम्बन और निष्फल हो जायेगा । शायद कहा जाये कि कारक और साकल्य मे अत्यन्त भेद होने से उक्त दोष नही आता, किन्तु तब तो प्रमाण और कारकसाकल्य मे अभेद कैसे हो सकता है ? क्योकि करण होने से प्रमाण कारकसाकल्यरूप नही हो सकता । यदि प्रमाण को करण नही माना जायेगा तो क्रिया और कारक के बिना उसकी सिद्धि नही हो सकती, क्योकि तब वह अर्थक्रिया से शून्य होने से आकाशपुष्पवत् हो जायेगा । तथा कारकसाकल्य को ही प्रमाण मानने पर उसको जानने के लिये यदि कारकसाकल्य नाम के अन्य प्रमाण की कल्पना की जाती है तो उसे भी जानने के लिये कारकसाकल्य नामक अन्य प्रमाण की कल्पना करने पर अनवस्था नामक दोष आता है । अत अज्ञान रूप होने से कारकसाकल्य भी प्रमाण नही हो सकता ।

सांख्य इन्द्रियवृत्ति को प्रमाण मानता है, वह भी अचेतन होने से सन्निकर्ष की तरह प्रमाण नही हो सकती । तथा इन्द्रियो की वृत्ति उन्मीलन आदि व्यापार रूप है या सशय आदि के व्यवच्छेद रूप है ? प्रथम पक्ष मे वह प्रमाण नही हो सकती, क्योकि उसमे व्यभिचार दोष आता है । सशय आदि मे भी उन्मीलन आदि रूप इन्द्रिय व्यापार होता है । दूसरे पक्ष मे तो ज्ञान ही प्रमाण सिद्ध होता है, क्योकि अज्ञान से सशय आदि का व्यवच्छेद नही हो सकता । हॉ, ज्ञान की उत्पत्ति मे कारण होने से इन्द्रियो को उपचार से सर्वत्र प्रमाण मानते ही है ।

मीमांसक प्रभाकर के अनुयायी ज्ञाता के व्यापार को प्रमाण मानते है । किन्तु वह ज्ञातृव्यापार ज्ञानरूप होने पर ही प्रमाण हो सकता है, क्योकि सशय आदि का व्यवच्छेदरूप फल ज्ञान से ही सम्भव है । यदि वह ज्ञातृव्यापार अज्ञान रूप है तो सशय

आदि के व्यवच्छेद के लिये किसी दूसरे को खोजना होगा। वह भी यदि अज्ञानरूप है तो अनवस्था की आपत्ति आती है।

शायद कोई कहे कि सन्निकर्ष आदि अज्ञानरूप होने पर भी सशय आदि के व्यवच्छेद में कारण हो सके तो इसमे दोष क्या हैं ? किन्तु ऐसा कहना ठीक नही है, क्योंकि सशय आदि अज्ञान के ही भेद होने से अज्ञान सामान्य मे ही आते है। व्यापक अज्ञान सामान्य से व्याप्य अज्ञान विशेष का व्यवच्छेद नही हो सकता, अन्यथा व्याप्य-व्यापकभाव नही बन सकता।

शायद कहा जाये कि सशय आदि ज्ञान के ही भेद होने से ज्ञान सामान्य के ही अन्तर्गत आते है, अत उनका ज्ञान के साथ कैसे विरोध हो सकता है ? किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नही है, क्योकि यहाँ ज्ञान से सम्यग्ज्ञान ही विवक्षित है, सशय आदि तो मिथ्याज्ञान रूप हैं, अत उनका सम्यग्ज्ञान के साथ विरोध है। इसलिए यह ठीक ही कहा है कि ज्ञान ही प्रमाण है, उसके बिना अज्ञान की निवृत्ति नही हो सकती।

बौद्धों का कहना है कि प्रमाण तो ज्ञान ही है, किन्तु निर्विकल्पकज्ञान ही प्रमाण है। सविकल्पकज्ञान तो अवस्तु को विषय करता है, अत वह प्रमाण नही है। बौद्धो के इस मत का निराकरण करने के लिये **अकलङ्कदेव** ने 'विज्ञान' पद रखा है। 'वि' अर्थात् जाति आदि के आकार रूप विशेष का ज्ञान अर्थात् निश्चय जो करता है वह **विज्ञान** है। या विशेष रूप से अर्थात् सशय आदि के व्यवच्छेद पूर्वक ज्ञान को **विज्ञान** कहते है। अत निर्विकल्पक दर्शन प्रमाण नही है, क्योकि वह व्यवहार के अनुपयोगी है। व्यवहारिजनो को हान-उपादान रूप फल की प्राप्ति निर्विकल्पक दर्शन से सम्भव नही है, यदि हो तो निर्विकल्पक के पश्चात् होने वाले सविकल्पकज्ञान के निष्फल होने का प्रसङ्ग प्राप्त होगा। पूर्ववत् विभ्रमरूप ही सब कुछ मानने पर भी सम्यक् व्यवहार नही बन सकता, क्योकि सशय आदि के दूर होने से ही ज्ञान सम्यक् व्यवहार मे हेतु होता है, भ्रान्ति से नही, अत सब ज्ञानो को विभ्रमरूप मानना उचित नही है।

ज्ञानाद्वैतवादी बौद्धों का कहना है कि निश्चयात्मक होने पर भी ज्ञान मे बाह्य अर्थ का अवलम्बन नही है, क्योकि बाह्य अर्थ ही नही है। **यौग** आदि का कहना है कि ज्ञान अर्थ का निश्चायक तो है, किन्तु अपने स्वरूप को नही जानता, क्योकि स्वात्मा मे क्रिया का विरोध है। इन दोनो ही मतों का निराकरण करने के लिये भी 'विज्ञान' शब्द रखा गया है। 'वि' अर्थात् विविध स्व और अपूर्व अर्थ को जो जानता है वह विज्ञान है, ऐसा

व्याख्यान लेना चाहिये । बाह्य पदार्थ से शून्य-उसको विषय न करने वाला ज्ञान प्रमाण नही हो सकता, अत ज्ञान को बाह्य अर्थ से शून्य सिद्ध करना ठीक नही है । जिस अनुमान से **बौद्ध** बहिरर्थ शून्यता सिद्ध करते हैं, वह अनुमान ही बाह्य अर्थ का अवलम्बी है । यदि ऐसा न हो तो साध्य और साधन मे कोई भेद नही रहेगा ।

बड़ा आश्चर्य है कि **ज्ञानाद्वैतवादी** अन्तर्मुख अनुभव के बल से ज्ञान की सत्ता तो स्वीकार करता है, किन्तु बहिर्मुख अनुभव के बल मे ज्ञेय की सत्ता स्वीकार नही करता । दोनों मे एक को सच्चा और दूसरे को झूठा मानना स्वेच्छाचारिता ही है, बुद्धिमत्ता नही है, क्योकि दोनो मे कोई अन्तर नही है । अत बाह्य अर्थ से शून्य ज्ञान नही है ।

तथा जो प्रमाणान्तर से अनिश्चित है उसे ही अपूर्वार्थ नही कहते, किन्तु प्रमाणान्तर से निश्चित भी यदि सशय आदि से ग्रस्त है तो वह भी अपूर्वार्थ है, उसी को जानने में प्रमाण की सफलता है ।

ज्ञान अपने स्वरूप को न जाने, यह भी उचित नही है । ज्ञान तो प्रकाश स्वरूप है, वह अपने को भी जानता है और अर्थ को भी जानता है, यह बात प्रतीति से सिद्ध है । 'मै इस नीलादि अर्थ को जानता हूँ' इस प्रकार के अन्तरङ्ग और बाह्य अर्थ का आलम्बन लेने वाले ज्ञान की प्रतीति होती है । यदि प्रतीतिसिद्ध बात को भी नही माना जायेगा तो बाह्य अर्थ के ज्ञान के भी अपलाप की आपत्ति उपस्थित होगी । शायद कहा जाये कि स्वात्मा में क्रिया का विरोध होने से ज्ञान स्वय अपने को नही जानता । तो ऐसा कहना भी ठीक नही है । जहाँ दो मे से एक की उपस्थिति मे दूसरा नही होता, वहाँ उन दोनो मे विरोध माना जाता है, किन्तु दीपक की तरह ज्ञान मे स्वरूप और अवबोध दोनो पाये जाते है । जैसे दीपक मे प्रदीपपना और प्रकाशन— दोनो एक साथ पाये जाते है, अत उनमे भी अविरोध स्वीकार करना चाहिये, यह बात न्यायसङ्गत है । उसे अङ्गीकार न करने पर पक्षपात का प्रसङ्ग आता है । अत स्व और अपूर्व अर्थ के निश्चयात्मक ज्ञान को प्रमाण कहते है, यह कथन ठीक ही है ।

प्रमाण के भेदो में भी विभिन्न दार्शनिको मे विवाद है । **चार्वाक** मतानुयायी एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानते है । **बौद्ध** और **वैशेषिक** प्रत्यक्ष और अनुमान— ये दो प्रमाण मानते है । **साख्य** प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम— ये तीन प्रमाण मानते है । **नैयायिक** प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम— ये चार प्रमाण मानते हैं । **मीमांसक प्रभाकर** के अनुयायी प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम और अर्थापत्ति— ये पाँच प्रमाण मानते

है । **मीमांसक कुमारिल** भट्ट के अनुयायी प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अभाव— ये छह प्रमाण मानते हैं । इन समस्त विवादो के निराकरण के लिये **अकलङ्कदेव** ने **"प्रमाणे इति सङ्ग्रहः"** कहा है । प्रमाण के समस्त भेद-प्रभेदो की सख्या का सङ्ग्रह दो ही प्रमाणों में हो जाता है, एक आदि अन्य भेदों मे उनका अन्तर्भाव नही होता । सक्षेप से अथवा सम्पूर्णरूप से ग्रह (ग्रहण) को **सङ्ग्रह** कहते है । इस सग्रह शब्द की व्याख्या से उक्त अर्थ प्रकट होता है ।

चार्वाक— प्रमाण की एक ही सख्या पर्याप्त है, उसी मे अन्य सख्याओ का अन्तर्भाव हो जाता है, दो प्रमाण मानने की क्या आवश्यकता है ?

जैन— नहीं, भेद गणना का नाम ही सख्या है, एकत्व तो अभेदरूप होता है । अथवा द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा मे एक प्रमाण भी सम्भव है, किन्तु पर्यायार्थिकनय की विवक्षा मे तो प्रमाण के भेदों का दो मे ही सग्रह सम्भव है ।

इस पर दो प्रमाणवादी—**बौद्ध** और **वैशेषिक** कह सकते है कि प्रत्यक्ष और अनुमान के भेद से दो प्रमाण रहे तो क्या हानि है । उनकी इस आशङ्का का निराकरण करने के लिये अपने मन मे प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदो का अवधारण करके **अकलङ्कदेव** प्रत्यक्ष का लक्षण कहते है— स्पष्ट प्रतिभासी ज्ञान **प्रत्यक्ष प्रमाण** है । अक्ष नाम आत्मा का है, क्योकि वह जानता है । ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम या क्षय से युक्त आत्मा से होने वाले परनिरपेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं । यह प्रत्यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति से प्रकट होता है । जो ज्ञान अस्पष्ट होता है वह प्रत्यक्ष नही होता । अस्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने से अतिप्रसग दोष आता है, अनुमान आदि भी प्रत्यक्ष प्रमाण कहलायेगे ।

वह प्रत्यक्ष मुख्य और साव्यवहारिक के भेद से दो प्रकार का है । मुख्य प्रत्यक्ष के तीन भेद है— अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान । ये ज्ञान पूरी तरह से स्पष्ट होते है और इनमे इन्द्रिय आदि की अपेक्षा नही रहती । जो ज्ञान अपने आवारक कर्म के हट जाने से प्रकट होता है वह मुख्य रूप से प्रत्यक्ष कहा जाता है । **तत्त्वार्थसूत्र** मे **'प्रत्यक्षमन्यत्'** सूत्र कहा है । इस सिद्धान्त के आधार से उक्त तीनो ज्ञान अनुपचरित रूप से प्रत्यक्ष है, यह सिद्ध होता है । इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाला मतिज्ञान साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलाता है, क्योकि वह एक देश से स्पष्ट होता है । समीचीन प्रवृत्ति मे निमित्त रूप व्यवहार को सव्यवहार कहते है । उसकी अपेक्षा से उसमे प्रत्यक्षता का उपचार करने मे कोई विरोध नही है । **'आद्ये परोक्षम्'** सूत्र मे उसे मुख्य

रूप से परोक्ष कहा है। अतः मतिज्ञान को उपचार से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहने मे सिद्धान्त विरुद्धता का दोष नहीं आता है।

आगे परोक्ष का लक्षण कहते हैं— शेष अर्थात् अस्पष्ट ज्ञान को परोक्ष कहते हैं। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम— ये पाँच उसके भेद हैं। परोक्ष प्रमाण अन्य ज्ञानों की अपेक्षा से होता है, क्योंकि स्मृति आदि में प्रत्यक्ष आदि निमित्त होते हैं।

कारिका के '**प्रमाणे**' पद से इस ग्रन्थ के अभिधेय को सूचित किया है, अर्थात् इस ग्रन्थ के द्वारा प्रमाण, नय और निक्षेप का कथन किया गया है। जो शास्त्र अभिधेय रहित होता है, वह 'बाझ का लड़का जाता है' इत्यादि वचनों की तरह अनादर का पात्र होता है। दोनो का वाच्य-वाचकभाव रूप सम्बन्ध स्पष्ट ही है, क्योंकि शास्त्र वाचक होता है और अभिधेय वाच्य होता है। यदि ऐसा सम्बन्ध न हो तो 'दस अनार' 'छह पूए' इत्यादि वचनो की तरह वह प्रेरक नही हो सकता। इस ग्रन्थ का साक्षात् प्रयोजन प्रमाण आदि विषयक अज्ञान की निवृत्ति उपलक्षित होता है, क्योकि शास्त्र के अध्ययन के अनन्तर प्रमाणादि विषयक अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। परम्परा प्रयोजन त्याग और ग्रहणरूप है, क्योंकि आगम हित की प्राप्ति और अहित के परिहार मे समर्थ होता है। जो निष्प्रयोजन होता है वह प्रवृत्ति का कारण नही होता। जैसे कौवे के दाँतों की परीक्षा करने का वचन प्रवृत्ति का कारण नही है, उसे सुनकर कोई उस काम मे नही लगता। अत उक्त कारिका का कथन समीचीन है ॥३॥

विशद या स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है। आगे ज्ञान के वैशद्य का स्वरूप कहते है—

अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम् ।
तद्वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम् ॥४॥

अर्थ— अनुमान आदि से अधिक जो पदार्थो के देश, काल, आकार आदि विशेषो का प्रतिभास होता है, उसे ज्ञान की **स्पष्टता** कहते हैं और विशेषो का प्रतिभास न होने को **अस्पष्टता** कहते हैं ॥४॥

विशेषार्थ— जहाँ जहाँ धुआँ होता है, वहाँ वहाँ आग होती है, ऐसा नियम है। इस नियम के अनुसार किसी स्थान पर उठते हुए धुएँ को देखकर 'वहाँ अग्नि है' ऐसा

जो ज्ञान होता है, उसे **अनुमान प्रमाण** कहते हैं। इस अनुमान के द्वारा जो आग का ज्ञान होता है उस ज्ञान से न तो आग का निश्चित स्थान ज्ञात होता है, न निश्चित आकार वगैरह ज्ञात होता है, केवल आग सामान्य का बोध होता है। अत अस्पष्ट होने से इस अनुमान ज्ञान को **परोक्ष प्रमाण** कहते हैं। किन्तु जब हम उस स्थान पर पहुँचते हैं जहाँ से धुआँ उठ रहा है तो हमें आँखों से आग को देखकर उसका निश्चित स्थान-आकार वगैरह सब स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है, अत उसे **प्रत्यक्ष प्रमाण** कहते है।

किन्तु इन्द्रियों से होने वाला आग का यह प्रत्यक्ष ज्ञान वास्तविक प्रत्यक्ष नही है, साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। अर्थात् चूंकि उसे लोकव्यवहार में प्रत्यक्ष कहा जाता है, इसीलिये वह प्रत्यक्ष है, वास्तव में तो वह भी परोक्ष है। क्योकि जो ज्ञान इन्द्रिय, मन, प्रकाश, उपदेश वगैरह की सहायता से होता है, वह **परोक्ष** है। इसी से **तत्त्वार्थसूत्र** में **'आद्ये परोक्षम्'** सूत्र के द्वारा श्रुतज्ञान की तरह मतिज्ञान को भी परोक्ष कहा है। और इन्द्रिय तथा मन की सहायता से होनेवाले ज्ञान को मतिज्ञान कहा है।

असलमें **जैन सिद्धान्त** के अनुसार ज्ञान आत्मा का गुण है। और गुण परनिरपेक्ष होता है। परन्तु ससार अवस्था मे वह आत्मा का स्वाभाविक ज्ञान गुण ज्ञानावरणादि कर्मो का निमित्त पाकर स्वत· इतनी हीन दशा को प्राप्त हो गया है कि इन्द्रियादि की सहायता के बिना उसकी उद्भूति नही होती। इसी से अन्य दार्शनिकों ने इन्द्रियो के सद्भाव मे ज्ञान का सद्भाव और इन्द्रियो के अभाव मे ज्ञान का अभाव माना है और वे इन्द्रियो से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते है। किन्तु जैन सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है, अत आत्मा के सिवाय अन्य किसी की भी सहायता के बिना जो ज्ञान होता है **वही मुख्यप्रत्यक्ष है।** और इन्द्रियादि की सहायता से उत्पन्न होने वाला ज्ञान वास्तव मे तो परोक्ष है, किन्तु चूकि उसे लोकव्यवहार मे प्रत्यक्ष कहा जाता है, अत वह गौण प्रत्यक्ष होने से **सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष** है। उसके दो भेद है— इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष। तथा जो अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है, अर्थात् इन्द्रियो की सहायता के बिना केवल आत्मा से होनेवाला प्रत्यक्ष है, वही **मुख्यप्रत्यक्ष** है। जिसके वह प्रत्यक्ष होता हैं, वह सर्वज्ञ सर्वदर्शी होता है।

साराश यह है कि ज्ञान स्वय अपने को भी जानता है और बाह्य पदार्थों को भी जानता है। जहाँ तक स्वय अपने को जानने की बात है सभी ज्ञान स्पष्ट ही होते है।

क्योंकि स्वसंवेदन में सब ज्ञानों का स्वरूप स्पष्ट रूप से ही प्रतिभासित होता है। किन्तु बाह्य पदार्थ किन्हीं ज्ञानों में स्पष्टरूप से प्रतिभासित होता है और किन्हीं ज्ञानों मे अस्पष्ट रूप से प्रतिभासित होता है। अत. बाह्य पदार्थों की अपेक्षा से ही कोई ज्ञान स्पष्ट और कोई ज्ञान अस्पष्ट होता है। स्वरूप की अपेक्षा तो सभी ज्ञान स्पष्ट ही होते हैं, क्योंकि स्व के जानने में ज्ञानान्तर का व्यवधान नही होता। तथा ज्ञान जो प्रमाण या अप्रमाण होता है, वह भी बाह्य अर्थ की अपेक्षा से ही होता है, स्वरूप की अपेक्षा से नही। स्वरूप की अपेक्षा तो सभी ज्ञान प्रमाण होते हैं, कोई भी ज्ञान अप्रमाण नही होता। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है— 'भाव प्रमेय की अपेक्षा मे कोई भी ज्ञान प्रमाणाभास नही होता और बाह्य प्रमेय की अपेक्षा में प्रमाण और प्रमाणाभास होते हैं'[१] ॥४॥

आगे साव्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम से कहे गये मतिज्ञान के कारणो और भेदो को कहते है—

अक्षार्थयोगे सत्तालोकोऽर्थाकारविकल्पधीः।
अवग्रहो विशेषाकाङ्क्षेहाऽवायो विनिश्चयः॥५॥
धारणा स्मृतिहेतुस्तन्मतिज्ञानं चतुर्विधम्।

अर्थ— इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध होने पर सत्तामात्र का दर्शन होता है। उसके पश्चात् पदार्थ के आकार को लिये हुए जो निर्णयात्मक ज्ञान होता है, उसे **अवग्रह** कहते है। उसके पश्चात् अवग्रह से जाने हुए पदार्थ के विषय में विशेष जानने की आकाक्षा को **ईहा** कहते हैं। आकाक्षित विशेष के विनिश्चय को **अवाय** कहते है। और जो स्मृति मे कारण हो उसे **धारणा** कहते है। इस तरह मतिज्ञान के चार भेद है॥

विशेषार्थ— समस्त पदार्थो मे साधारण रूप से पाये जाने वाले सत्त्व सामान्य को **सत्ता** कहते हैं। उसके आलोक अर्थात् निर्विकल्पक रूप से ग्रहण को **दर्शन** कहते है। आगम मे सामान्य ग्रहण को दर्शन कहा है। शायद कहा जाये कि मतिज्ञान के प्रकरण में दर्शन की चर्चा कैसी? तो इसका समाधान यह है कि ज्ञान से पूर्व का परिणाम बतलाया है, क्योंकि आगम मे कहा है कि छद्मस्थो के दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है। यह

---

१ भाव-प्रमेयाऽपेक्षायां प्रमाणाभास-निह्नवः।
बहिः प्रमेयाऽपेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते॥
— आप्तमीमांसा, कारिका ८३

भी प्रश्न सम्भव है कि आगम मे तो स्वरूप के ग्रहण को दर्शन कहा है और यहाँ सत्ता सामान्य के ग्रहण को दर्शन कहा है तो इस कथन मे आगम से विरोध क्यों नही है ? इसका समाधान यह है कि न्यायशास्त्र का उद्देश्य दूसरे दार्शनिकों के विवादों को दूर करना है । और अन्य दर्शनो मे निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमाण माना है । उसकी प्रमाणता का घात करने के लिये स्याद्वादी दार्शनिक सामान्य ग्रहण को दर्शन कहते हैं । छद्मस्थ लोग जिस समय स्वरूप को ग्रहण करते है, उस समय बाह्य अर्थ विशेष को ग्रहण नही करते और प्रामाण्य का विचार बाह्य अर्थ की अपेक्षा से ही किया जाता है, उसी का व्यवहार मे उपयोग होता है । व्यवहारी मनुष्य स्वरूप को देखने के लिये दीपक को नही खोजते । अत दर्शन बाह्य अर्थ विशेष के व्यवहार के लिये अनुपयोगी है, इसलिये ज्ञान ही प्रमाण है, क्योकि वह सविकल्पक होता है । यथार्थ मे तो स्वरूप के ग्रहण को ही दर्शन कहते है । केवली के दर्शन और ज्ञान एक साथ होते है । यदि सत्ता सामान्य के ग्रहण को दर्शन माना जायेगा तो ज्ञान का विषय सामान्यविशेषात्मक वस्तु नही हो सकेगा । अस्तु ।

इन्द्रिय और अर्थ का योग होने पर सत्ता सामान्य का दर्शन होता है । स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र— ये पॉच इन्द्रियॉ हैं और छठा मन है । इन्द्रियो के दो भेद होते है— द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय । निर्वृति और उपकरणरूप पुद्गल परिणाम को **द्रव्येन्द्रिय** कहते है तथा जीव के परिणाम को **भावेन्द्रिय** कहते है । उसके दो भेद है— लब्धि और उपयोग । अर्थ को ग्रहण करने की शक्ति को **लब्धि** कहते है और अर्थ ग्रहण रूप व्यापार को **उपयोग** कहते है ।

यह प्रश्न हो सकता है कि मन इन्द्रिय कैसे है ? इसका समाधान यह है कि अन्त करण रूप होने से मन के इन्द्रिय होने मे कोई विरोध नही है । इसी से मन को अनिन्द्रिय अर्थात् 'ईषत् इन्द्रिय' कहा है ।

विषय को अर्थ कहते हैं । इन्द्रिय और विषय का योग्य देश मे अवस्थान होने पर दर्शन होता है ।

शायद कहा जाये कि ज्ञान की उत्पत्ति मे जैसे इन्द्रियॉ कारण है वैसे अर्थ भी कारण है । किन्तु ऐसा कहना ठीक नही है, क्योकि ज्ञान की उत्पत्ति में अर्थ का कोई व्यापार नही देखा जाता । दूसरे अर्थ के साथ ज्ञान का अन्वय-व्यतिरेक नही पाया

जाता। कारण के होने पर कार्य का होना **अन्वय** है और कारण के अभाव में कार्य का अभाव **व्यतिरेक** है। कभी अर्थ के होने पर भी ज्ञान नहीं होता और अर्थ के अभाव में भी ज्ञान हो जाता है। अस्तु,

दर्शन के पश्चात् अर्थ के आकार आदि का जो निश्चयात्मक ज्ञान होता है, वह **अवग्रह** है। आशय यह है कि ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय का क्षयोपशम होने पर दर्शन ही अवग्रह रूप हो जाता है। अवग्रह के पश्चात् अवग्रह के द्वारा जाने गये विषय में विशेष जानने की आकाक्षा रूप ज्ञान को **ईहा** कहते हैं। जैसे 'यह मनुष्य किस देश का है', अथवा 'किस अवस्था का है' ऐसी आकाक्षा उत्पन्न होने पर जब 'भवितव्यता प्रत्यय रूप' ज्ञान होता है कि यह आदमी दाक्षिणात्य होना चाहिये या युवा और गौरवर्ण होना चाहिये तो यह ज्ञान ईहा है। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि अवग्रह के पश्चात् सशयज्ञान उत्पन्न होता है और उसके पश्चात् जब सशय दूर होकर वह ज्ञान एक निर्णय की ओर झुकने लगता है तो वह ईहा है। ईहा से जाने हुए अर्थ के निर्णय रूप ज्ञान को **अवाय** कहते हैं। जैसे यह मनुष्य दाक्षिणात्य ही है, तथा युवा और गौरवर्ण ही है। और अवाय से जाने हुए अर्थ का कालान्तर में भी स्मरण हो सकने में हेतु जो ज्ञान होता है उसे **धारणा** कहते है।

शङ्का[१]— ईहा का अर्थ होता है चेष्टा या प्रयत्न। और धारणा तो सस्कार है। और इन दोनों का ज्ञान से अत्यन्त भेद है। तब इन्हे ज्ञान क्यो कहा?

समाधान— ईहा और धारणा को भी ज्ञान रूप मानना चाहिये, क्योंकि ये दोनों अवग्रह और अवाय ज्ञानो के ही उपयोग विशेष हैं। अर्थात् ईहा अवग्रह का उपयोग विशेष है और अवाय धारणा का उपयोग विशेष है। और जिस उपयोग विशेष का उपादान कारण चेतन हो, वह अचेतन कैसे हो सकता है। अथवा अवाय रूप उपयोग-विशेष ईहा का उपादेय-कार्य है और धारणा रूप उपयोग-विशेष अवाय ज्ञान का कार्य है। चेतन का उपादान कारण अचेतन कभी भी नही हो सकता।

साराश यह है कि दर्शन ही अवग्रहज्ञान रूप होता है और अवग्रहज्ञान ईहा रूप, ईहा अवायरूप और अवायज्ञान धारणारूप होता है। अतः ये चारों ही मतिज्ञान हैं। इस प्रकार मतिज्ञान या साव्यवहारिक प्रत्यक्ष के चार भेद हैं॥

---

१ न्यायकुमुदचन्द्र, भाग १, पृ. १७३

आगे इसी बात को स्पष्ट करते हैं—

बह्वाद्यवग्रहाद्यष्टचत्वारिंशत्स्वसंविदाम् ॥६॥
पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं फलं स्यादुत्तरोत्तरम् ।

अर्थ— बहु आदि बारह प्रकार के अर्थों के अवग्रह आदि चारो ज्ञान होते है । अत बहु आदि बारह भेदो के साथ अवग्रह आदि चारो ज्ञानो का गुणा करने पर अड़तालीस भेद होते हैं । ये अड़तालीस भेद बाह्यार्थ ग्रहण रूप ज्ञान भी होते हैं और उन ज्ञानो का जो स्वसवेदन रूप ज्ञान होता है उनमें भी होते है । इन अवग्रहादि चारो भेदो मे पूर्व-पूर्व का ज्ञान प्रमाण है और उत्तर-उत्तर का ज्ञान फल है ॥

विशेषार्थ— अवग्रहादि चारों ज्ञान बारह प्रकार के अर्थो के होते है । वे बारह अर्थ हैं— बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनि:सृत, अनुक्त, ध्रुव और इनके प्रतिपक्षी एक, एकविध, चिर, नि:सृत, उक्त और अध्रुव । बहुत वस्तुओं के ग्रहण करने को **बहुज्ञान** कहते हैं । बहुत तरह की वस्तुओ के ग्रहण को **बहुविधज्ञान** कहते हैं । जैसे, सेना या वन को एक समूह रूप में जानना बहुज्ञान हैऔर हाथी, घोड़े आदि या आम, महुआ आदि भेदो का जानना बहुविधज्ञान है । वस्तु के एक भाग को देखकर पूरी वस्तु को जान लेना **अनि:सृतज्ञान है**। जैसे जल में डूबे हुए हाथी की सूँड़ को देखकर हाथी को जान लेना । शीघ्रता से जाती हुई वस्तु को जानना **क्षिप्रज्ञान** है । जैसे तेज चलती हुई रेलगाड़ी को या उसमे बैठकर बाहर की वस्तुओ को जानना । बिना कहे अभिप्राय से ही जान लेना **अनुक्तज्ञान** है । बहुत काल तक जैसा का तैसा निश्चल ज्ञान होना या पर्वत वगैरह स्थिर पदार्थ को जानना **ध्रुवज्ञान** है । अल्प को अथवा एक वस्तु को जानना अल्प या **एकज्ञान** है । एक प्रकार की वस्तुओं के ज्ञान को **एकविधज्ञान** कहते है । धीरे-धीरे चलते हुए घोड़े वगैरह को जानना **चिरज्ञान** है । सामने उपस्थित पूरी वस्तु को जानना **नि:सृतज्ञान** है । कहने पर जानना **उक्तज्ञान** है । चंचल बिजली वगैरह को जानना **अध्रुवज्ञान** है । इस तरह बारह प्रकार का अवग्रह, बारह प्रकार की ईहा, बारह प्रकार का अवाय और बारह प्रकार का धारणा ज्ञान होता है । ये सब मिलकर ४८ भेद होते हैं । तथा प्रत्येक इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होने के कारण इन ४८ भेदों को छह से गुणा करने पर दो सौ अठासी भेद होते हैं । व्यञ्जन का केवल अवग्रह ही ज्ञान होता है तथा वह चक्षु और मन को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों से होता है । उन्हें बहु आदि बारह के साथ गुणा करने पर ४८ भेद होते हैं । दोनो को मिलाने पर मतिज्ञान के ३३६ भेद होते हैं ।

इनके सम्बन्ध में अकलङ्कदेव का कहना है कि ये भेद केवल अर्थ को ग्रहण करने वाले ज्ञान के ही नहीं है, किन्तु उन ज्ञानों का जो स्वसंवेदन रूप ज्ञान होता है, उनके भी ये भेद हैं।

आशय यह है कि प्रत्येक ज्ञान स्वय अपने को भी जानता है और बाह्य अर्थ को भी जानता है। क्योंकि यदि ज्ञान अपने को न जाने तो वह बाह्य अर्थ को भी नही जान सकता। ज्ञान के इस स्वय को जानने का नाम ही स्वसंवेदन है। इस स्वसंवेदन ज्ञान के भी उतने ही भेद होते हैं जितने भेद बाह्य अर्थ को ग्रहण करने वाले ज्ञान के होते है।

शङ्का[1]— बहु-बहुविध आदि धर्म अर्थ में पाये जाते है, अतः अर्थ को ग्रहण करने वाले ज्ञान के तो बहु-बहुविध आदि भेद हो सकते हैं, किन्तु ज्ञान के स्वरूप में तो इस प्रकार के भेद सम्भव नही हैं, अत स्वसवेदन के ये भेद कैसे हो सकते हैं ?

समाधान— बहु-बहुविध आदि धर्मों को ग्रहण करना, यह ज्ञान का स्वरूप है। और ज्ञान का अपने स्वरूप को जानना स्वसवेदन है। अत जब ज्ञान के स्वरूप मे वर्तमान 'बहु आदि धर्म ग्राहकत्व' स्वसवेदन का विषय है तो ज्ञान के स्वरूप में भी बहु अवग्रह आदि भेदो का होना सम्भव है। अस्तु, इन अवग्रह आदि ज्ञानों मे से पूर्व-पूर्व का ज्ञान प्रमाण है, क्योकि वह उत्तर ज्ञान की उत्पत्ति में साधकतम है और उत्तर-उत्तर का ज्ञान फल है, क्योंकि वह अपने से पूर्वज्ञान के द्वारा उत्पन्न होता है। अर्थात् अवग्रह ज्ञान प्रमाण है और ईहा ज्ञान उसका फल है, ईहा ज्ञान प्रमाण है और अवाय ज्ञान उसका फल है। अवाय ज्ञान प्रमाण है और धारणा ज्ञान उसका फल है। इस तरह अवग्रहादिज्ञान अपने से पूर्वज्ञान की अपेक्षा फल हैं और अपने से उत्तर ज्ञान की अपेक्षा प्रमाण हैं। यद्यपि प्रमाण और फल क्रमभावी हैं अर्थात् अवग्रहरूप प्रमाण के पश्चात् ईहा रूप फल होता है इसी तरह ईहा रूप प्रमाण के पश्चात् अवाय रूप फल और अवाय रूप प्रमाण के पश्चात् धारणा रूप फल होता है तथापि प्रमाण और फल में कथञ्चित् एकत्व होता है। अत· जो वादी प्रमाण और फल को सर्वथा अभिन्न या भिन्न मानते हैं, उनका वैसा मानना ठीक नही है। क्योंकि दोनों अवस्थाओं में अर्थक्रिया नही बन सकती। जो चेतन द्रव्य अन्वय रूप प्रतीति के बल से अनुगताकार अखण्डरूप से प्रसिद्ध है, वही पूर्व आकार के त्याग और उत्तर आकार के ग्रहण तथा चेतनरूप से स्थितिरूप

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग १, पृष्ठ १७४

परिणाम से परिणमन करता हुआ व्यतिरेक ज्ञान के बल से प्रत्येक पर्याय में भिन्न अनुभूत होता है। इस प्रकार प्रमाण और फल का व्यवहार बन जाता है। अभ्यस्त विषय में ज्ञान की प्रमाणता स्वत·सिद्ध हो जाती है और अनभ्यस्त विषय मे प्रमाणान्तर की अपेक्षा होने से परत-सिद्ध होती है। सर्वथा स्वत या सर्वथा परत· मानने से अतिप्रसग तथा अनवस्था दोष आते हैं।

॥प्रथम प्रमाणप्रवेश के अन्तर्गत प्रथम प्रत्यक्षपरिच्छेद समाप्त ॥

प्रथम प्रमाणप्रवेश : द्वितीय प्रमेयपरिच्छेद

आगे प्रमाण का विषय बतलाते हैं—

तद् द्रव्यपर्यायात्मार्थो बहिरन्तश्च तत्त्वतः ॥७॥

अर्थ— यतः प्रमाण-फलभूत अवग्रहादि ज्ञानों मे कथञ्चित् एकत्व है, अत द्रव्यपर्यायात्मक अन्तस्तत्त्व तथा बाह्य घटादिरूप अर्थ प्रमाण का विषय है ॥

विशेषार्थ— अकलङ्कदेव[१] ने '**अर्थ**' शब्द की 'व्युत्पत्ति इस प्रकार की है— जो पर्यायो को प्राप्त करता है अथवा पर्यायों के द्वारा प्राप्त किया जाता है, उसे **अर्थ** कहते हैं। वह अर्थ है— द्रव्य। अर्थात् अर्थ और द्रव्य— ये दोनो शब्द एकार्थवाची हैं। ऊपर कारिका मे भी अर्थ को '**द्रव्यपर्यायात्मा**' कहा है। जो यह बतलाता है कि अर्थ न तो केवल द्रव्यात्मा है और न केवल पर्यायात्मा है, किन्तु द्रव्यपर्यायात्मा है। यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि जब **अकलङ्कदेव** ने अन्यत्र '**अर्थ**' शब्द से द्रव्य का ग्रहण किया है तो यहाँ उसे '**द्रव्यपर्यायात्मा**' क्यो कहा ? इसका समाधान यह है कि ऊपर '**अर्थ**' की जो व्युत्पत्ति की है कि जो पर्यायों को प्राप्त करे अथवा पर्यायों के द्वारा प्राप्त किया जाये उसे अर्थ कहते हैं, उस व्युत्पत्ति से ही यह प्रकट हो जाता है कि द्रव्य पर्यायात्मक है— पर्यायों से भिन्न नही है। इसी बात को ऊपर की कारिका मे '**द्रव्यपर्यायात्मा**' शब्द से स्पष्ट कर दिया है। और उसको स्पष्ट करने की आवश्यकता इसलिये हुई कि कोई दार्शनिक केवल द्रव्यरूप तत्त्व ही मानते हैं तो कोई पर्यायरूप तत्त्व ही मानते है और कोई द्रव्यरूप और पर्यायरूप तत्त्वों को मानकर भी दोनों को सर्वथा भिन्न ही मानते हैं। उनको लक्ष्य में रखकर **अकलङ्कदेव** ने अर्थ को '**द्रव्यपर्यायात्मा**' कहा है। '**अर्थ**' शब्द का एक दूसरा अर्थ भी है। संस्कृत की जिस '**ऋ**' धातु से अर्थ शब्द बना है उसका अर्थ है जाना, और सस्कृत के नियमानुसार जितनी गमनार्थक धातुएँ हैं, उनका अर्थ जानना भी होता है, अत- जो जाना जाता है उसे

---

१ 'इयर्ति पर्यायानर्यते वा नैरित्यर्थो द्रव्यम्'

— तत्त्वार्थवार्तिक, सूत्र १/१७।

अर्थ[१] कहते है। इसके अनुसार अर्थ शब्द का अर्थ होता है— 'विषय'। अर्थात् प्रमाण के द्वारा जानने योग्य द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु। वस्तु की प्रत्येक दशा मे अनुस्यूत आकार को द्रव्य कहते है और व्यावृत्ताकार को पर्याय कहते है। ये दोनो जिसकी आत्मा स्वभाव वा धर्म होते है वह द्रव्यपर्यायात्मा कहलाता है। वह द्रव्यपर्यायात्मा अर्थ काल्पनिक नही है, परमार्थरूप है। यदि ऐसा न हो तो वह अर्थ ही नही हो सकता। अत प्रमाण का विषय द्रव्यपर्यायात्मा जीवादि हैं, क्योकि वह प्रमाण का विषय है। जो द्रव्य पर्याय रूप नही होता, वह प्रमाण का विषय नही होता, जैसे बॉझ का लड़का। जीवादि प्रमाण का विषय है, अत वह द्रव्यपर्यायात्मा है। एकान्त से द्रव्य या एकान्त से पर्याय या परस्पर निरपेक्ष द्रव्य और पर्याय अर्थक्रिया म समर्थ नही है, अत वे प्रमाण का विषय नही है। द्रव्यैकान्त, पर्यायैकान्त या निरपेक्ष द्रव्यैकान्त, पर्यायैकान्त मे क्रम और यौगपद्य का अभाव होने से अर्थक्रिया नही बन सकती। क्रम और यौगपद्य अनेकान्त मे ही सम्भव है। उसके अभाव मे नही। तथा अर्थक्रिया क्रम और यौगपद्य से व्याप्य है और अर्थक्रिया से प्रमेय व्याप्य है। व्यापक का अनुपलम्भ व्याप्य के अभाव को सिद्ध करता है अथवा व्याप्य की उपलब्धि व्यापक के सद्भाव को सिद्ध करती है।

शायद यह पूछा जाये कि अर्थक्रिया प्रमेयत्व की व्यापिका कैसे है? तो उसका समाधान यह है कि बाह्य अथवा आभ्यन्तर पदार्थों मे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप अर्थक्रिया के होने पर ही प्रमाण की प्रवृत्ति होती है। यदि ऐसा न हो तो गृहीत-ग्राही होने से सभी ज्ञान अप्रमाण ठहरेगे और निर्विषय होने से उनका अभाव ही हो जायेगा, क्योकि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के अभाव मे वस्तु सत् नही हो सकती। सत् का लक्षण ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तता है। और जो असत् है वह प्रमेय नही हो सकता। असत् को प्रमेय (प्रमाण का विषय) मानने से अतिप्रसग दोष आता है।

शायद पूछा जाये कि अनेकान्त क्रम-यौगपद्य का व्यापक कैसे है? इसका उत्तर है कि द्रव्य की अपेक्षा यौगपद्य और पर्याय की अपेक्षा देशक्रम, कालक्रम सम्भव हैं।

आगे एकान्तवाद मे अर्थक्रिया का विरोध तथा अर्थक्रिया को वस्तु का लक्षण बतलाते है—

---

१ 'अर्यते गम्यते ज्ञायते इत्यर्थो विषय'

— लघीयस्त्रयादिसग्रह, पृ १८।

अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः ।
क्रमाक्रमाभ्यां भावानां सा लक्षणतया मता ॥८ ॥

अर्थ— नित्यपक्ष में और क्षणिकपक्ष में क्रम और अक्रम से अर्थक्रिया नही बनती । और उस अर्थक्रिया को परमार्थभूत अर्थों का लक्षण माना गया है ॥८ ॥

विशेषार्थ— **बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति** ने अपने '**प्रमाणवार्तिक**' में कहा है कि जो अर्थक्रिया करने मे समर्थ है, वही वस्तु परमार्थ सत् है, किन्तु **अकलङ्कदेव** कहते हैं कि अर्थक्रिया या तो क्रम से होती है या अक्रम से, (अर्थात् युगपत्) होती है । किन्तु वस्तु को सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक मानने पर न तो क्रम से ही अर्थक्रिया होना सम्भव है और न अक्रम से ही अर्थक्रिया होना सम्भव है । इसका खुलासा इस प्रकार है— अर्थक्रिया का मतलब है कुछ काम करना । पहले एक कार्य किया, फिर दूसरा कार्य किया, इसे क्रम कहते हैं । इस प्रकार का क्रम नित्य वस्तु में नही बनता, क्योकि नित्यवस्तु जिस स्वभाव से पहले कार्य को करती है, उसी स्वभाव से यदि दूसरे कार्य को करती है तो दोनों कार्य एक काल मे ही हो जायेंगे । इसी तरह नित्यवस्तु जिस स्वभाव से पीछे होनेवाले दूसरे कार्य को करती है यदि उसी स्वभाव से पहले होने वाले प्रथम कार्य को भी करती है तो पहले होनेवाला कार्य भी पीछे होने वाले कार्य के काल मे ही हो सकेगा, क्योकि दोनो कार्य एक ही स्वभाव से जन्य हैं । और वह स्वभाव नित्यवस्तु में सदा विद्यमान है । उस स्वभाव के सदा विद्यमान रहते हुए भी कार्य एक साथ न होकर आगे पीछे, कैसे हो सकते हैं ? शायद कहा जाये कि यद्यपि दोनो कार्य एक स्वभावजन्य हैं, किन्तु दोनों के सहकारी कारण भिन्न-भिन्न हैं, अत· दोनों कार्य क्रम से होते हैं । किन्तु ऐसी स्थिति में तो वह कार्य सहकारी कारणजन्य ही कहा जायेगा ।

शायद कहा जाये कि नित्यवस्तु भी तो उपस्थित रहती है तभी तो कार्य होता है । किन्तु ऐसे अकिञ्चित्कर नित्य के उपस्थित रहने से भी क्या लाभ है ? जिसके रहते हुए भी कार्य नही होता और सहकारी कारण के आ जाने पर कार्य होता है । अत नित्यवस्तु क्रम से कार्य नही कर सकती । और युगपद् भी कार्य नही कर सकती, क्योंकि ऐसी स्थिति में एक ही क्षण में सब कार्यों की उत्पत्ति का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाने से आगे के क्षणों में उसे कुछ करने के लिये शेष नही रहेगा और ऐसा होने पर वह अर्थक्रिया से शून्य हो जायेगा, और अर्थक्रिया से शून्य होने पर नित्यवस्तु का अभाव ही हो जायेगा । क्योंकि 'जो अर्थक्रियाकारी होता है वही वास्तव में सत् है' ऐसा

सिद्धान्त है। अत नित्यवस्तु न तो क्रम से कार्य करने मे समर्थ है और न अक्रम से कार्य करने मे समर्थ है, अत वह अवस्तु ही है। क्योंकि जो क्रम और अक्रम से अर्थक्रिया नही करता, वह वस्तु नही है, जैसे— आकाश के फूल। चूंकि सर्वथा नित्य क्रम और अक्रम से अर्थक्रिया नही कर सकता, अत- वह वस्तु नही है।

अब प्रश्न उठता है कि नित्यपदार्थ मे कार्य करने का स्वभाव सर्वदा रहता है अथवा कभी कभी ? यदि सर्वदा रहता है तो सर्वदा ही सब कार्यो की उत्पत्ति हुआ करेगी, क्योकि नित्यपदार्थ मे कार्यो का उत्पन्न करने का स्वभाव सदा विद्यमान रहता है। यदि कभी-कभी रहता है तो इसका यह मतलब हुआ कि नित्यपदार्थ पहले तो कार्य को उत्पन्न करने मे असमर्थ रहता है और पीछे वह उसे करने मे समर्थ हो जाता है। तब पुन प्रश्न होता है कि जब वह नित्यपदार्थ कार्य को उत्पन्न करता है तो उस समय अपने असमर्थपने को छोड़ देता है या नही ? यदि नही छोड़ता तब तो वह उस कार्य को कभी भी उत्पन्न नही कर सकता, क्योकि जो वस्तु जिस कार्य को उत्पन्न करने में असमर्थ अपने पूर्व स्वभाव को नही छोड़ती, वह वस्तु उस कार्य को कभी भी उत्पन्न नही कर सकती। जैसे जौ से शालि धान्य के अङ्कुर कभी भी उत्पन्न नही होते।

यदि नित्यवस्तु अपने पूर्व असमर्थ स्वभाव को कार्यकाल मे छोड़ देती है तो उसे सर्वथा नित्य नही कहा जा सकता, क्योकि जो वस्तु अपने पूर्व स्वभाव को छोड़ देती है, वह नित्य एकरूप नही रहती, तब तो उसे परिणामी मानना होगा, क्योकि परिणामी हुए बिना पूर्व स्वभाव का परित्याग करके समर्थ स्वभाव का ग्रहण नही बन सकता। पूर्व स्वभाव का त्याग और उत्तर स्वभाव का ग्रहण तो तभी बन सकता है जब वस्तु अपने एकरूप को छोड़कर परिणमनशील हो। और ऐसा होने पर सर्वथा नित्यता का घात होता है। अत नित्य वस्तु मे क्रम और युगपद् अर्थक्रियाकारित्व नही बनता[१]।

इसी तरह सर्वथा क्षणिक वस्तु मे भी क्रम और अक्रम से अर्थक्रिया नही बनती, जिसका खुलासा इस प्रकार है— क्षणिक पदार्थ भी क्रम से अर्थक्रिया करने मे समर्थ नही है, क्योकि उसमे न देशक्रम ही सम्भव है और न कालक्रम ही सम्भव है। बौद्धों का कथन है कि— 'जो जहाँ है वह वही है, जो जिस काल में है वह उसी काल मे है'। क्षणिकवाद में पदार्थों मे न देशव्याप्ति सम्भव है न कालव्याप्ति सम्भव है'। आशय यह है कि जो एकक्षणवर्ती होता है, उसे क्षणिक कहते है। एक क्षणवर्ती पदार्थ न तो

१ न्यायकुमुदचन्द्र, भाग १, पृ ३७३-३७४।

एक देश से दूसरे देश में जा सकता है और न एक काल से दूसरे काल में जा सकता है और उसके बिना क्रम से कार्य करना सम्भव नही है । यदि सम्भव हो तो वह क्षणिक नहीं हो सकता । शायद कहा जाये कि सन्तान की अपेक्षा क्रम बन सकता है, किन्तु सन्तान तो अवस्तु है, वास्तविक नही है । इसके सिवाय हमारा प्रश्न है कि सन्तान ही कार्यकारी है या स्वलक्षण रूप क्षणिक अर्थ कार्यकारी है, या दोनों कार्यकारी है ? यदि सन्तान कार्यकारी है तो वही वस्तु कहलायेगी, तब क्षणिकवस्तु की कल्पना बेकार है ? यदि स्वलक्षण कार्यकारी है तो सन्तान अवस्तु ठहरती है, ऐसी स्थिति मे उसकी अपेक्षा से क्षणिक को कार्यकारी सिद्ध करना भी अवास्तविक ही ठहरेगा । यदि दोनों ही कार्यकारी है तब तो वस्तु कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक ही सिद्ध होती है । अत क्षणिक अर्थ क्रम से काम नही कर सकता । एक साथ भी कार्य नही कर सकता, क्योंकि ऐसा होने से कारण के काल में ही कार्य की उत्पत्ति हो जायेगी और उस कार्य के भी कार्य की उत्पत्ति उसी क्षण में हो जायेगी ।

शायद कहा जाये कि यदि क्षणिक और नित्यपक्ष मे अर्थक्रिया नही बनती तो न बने, उससे क्या हानि है ? किन्तु ऐसा कहना ठीक नही है, क्योंकि सभी आस्तिक दर्शनों ने अर्थक्रिया को ही वस्तु का लक्षण माना है । अत अर्थक्रिया से सत्त्व व्याप्य है । नित्य और क्षणिक पक्ष मे व्यापक अर्थक्रिया के अभाव में व्याप्य सत्त्व का भी अभाव सिद्ध होता है । और चूकि सत्त्व प्रत्यक्षसिद्ध है, अत वह अपनी व्यापक अर्थक्रिया को बतलाता है । उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य परिणति रूप अर्थक्रिया स्वव्यापक क्रम-यौगपद्य को बतलाती है और क्रम-यौगपद्य स्वव्यापक अनेकान्त को सिद्ध करते है और एकान्त का निषेध करते हैं । अत उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप परिणाम वाले पदार्थ मे ही अर्थक्रिया सम्भव होने से द्रव्यपर्यायात्मक अर्थ ही प्रमाण का विषय होता है ॥८ ॥

नित्य और एकरूप वस्तु अनित्य तथा अनेकरूप कैसे हो सकती है ? इस आशङ्का का परिहार करते है—

नाभेदेऽपि विरुद्धयेत [१]विक्रियाऽविक्रियैव वा ।

---

१. 'विक्रिया विक्रियैव'— अकलङ्कग्रन्थत्रयम्, पृष्ठ ४

— न्यायकुमुदचन्द्र, प्रथम भाग, पृष्ठ ३९६

अर्थ— भेद और अभेद में भी विक्रिया और अविक्रिया के होने में कोई विरोध नही है ॥

विशेषार्थ— पूर्व आकार को छोड़कर उत्तर आकार को धारण करने का नाम विक्रिया या विकार है। और पूर्व तथा उत्तर आकारों मे अनुस्यूत रहने का नाम अविक्रिया या अविकार है। द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा वस्तु-धर्मों में भेद नही है, जो मिट्टी पिण्डाकार होती है, वही मिट्टा उस पिण्डाकार को त्यागकर उत्तर घटाकर को धारण करती है, यह बात प्रत्यक्षसिद्ध है और प्रत्यक्षसिद्ध बात मे विरोध को स्थान नही है। '**अपि**' शब्द से भेद को ग्रहण किया है। पर्यायार्थिकनय की विवक्षा में भेद मे भी क्रम और यौगपद्य के होने मे कोई विरोध नही है, इसी से अर्थक्रिया के होने में भी कोई विरोध नही है। क्योंकि पूर्वाकार की निवृत्ति होने पर ही उत्तर पर्याय उत्पन्न होती है। अत वस्तु कथञ्चित् भेदाभेदात्मक, कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक और कथञ्चित् सदसदात्मक ही मानना चाहिये। तभी उसमे अर्थक्रिया सम्भव हो सकती है ॥

आगे इसी अनेकान्तात्मक वस्तु का समर्थन बौद्धाभिमत चित्रज्ञान के दृष्टान्त से करते है—

मिथ्येतरात्मकं दृश्यादृश्यभेदेतरात्मकम् ॥९॥
चित्तं सदसदात्मैकं तत्त्वं साधयति स्वतः ।

अर्थ— मिथ्या और सत्यरूप, दृश्य और अदृश्यरूप तथा भेदाभेदरूप चित्त स्वय सदसदात्मक एक तत्त्व को सिद्ध करता है ॥

विशेषार्थ— विज्ञानवादी **बौद्ध** मानते है कि ज्ञान बाह्याकार विषय की अपेक्षा मिथ्या और स्वरूप के अवलम्बन की अपेक्षा अमिथ्या होता है। तथा स्वरूप की अपेक्षा अदृश्य और ग्राह्य आकार की अपेक्षा दृश्य होता है व ग्राह्य-ग्राहक आकार की अपेक्षा भेदरूप और ज्ञान की अपेक्षा अभेदरूप होता है। इस प्रकार मिथ्या-अमिथ्या-रूप, दृश्य-अदृश्यरूप तथा भेदाभेद-रूप चित्त अर्थात् ज्ञान स्वय ही जीव-अजीव आदि तत्त्व को सदसदात्मक सिद्ध करता है।

शायद कोई कहे कि द्रव्य आदि तो सदात्मक हैं और प्रागभाव आदि असदात्मक है। अत सदात्मक तत्त्व भिन्न है और असदात्मक तत्त्व भिन्न है, किन्तु ऐसी मान्यता ठीक नही है, क्योंकि यद्यपि प्रमाण की अपेक्षा वस्तु एक है तथापि द्रव्यार्थिक और

पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा जीवादि तत्त्व सदसदात्मक प्रसिद्ध हैं। जैसे बौद्धमत में एक भी ज्ञान मिथ्यामिथ्यात्मक दृश्यादृश्यात्मक आदि प्रसिद्ध है, वैसे ही जीवादि तत्त्व भी सदसदात्मक प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु को एकानेकात्मक और नित्यानित्यात्मक मानना चाहिये, उसके बिना उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य परिणतिरूप अर्थ-क्रिया नही बन सकती। अत एक ही आधार मे सत्त्व - असत्त्व आदि धर्म पाये जाने से उनमें परस्पर में कोई विरोध नही है, इसलिये अनेकान्तवाद में वैयधिकरण नाम का दोष नही आता।

शङ्का— वस्तु में जिस अपेक्षा से आप सत्त्व धर्म मानते है, उसी अपेक्षा से असत्त्व धर्म भी प्राप्त होगा तो संकर दोष आयेगा ?

समाधान— नही, दोनो धर्मों की अपेक्षा मे भेद है, स्वरूप की अपेक्षा वस्तु मे सत्त्वधर्म का विधान किया जाता है और पररूप की अपेक्षा से असत्त्वधर्म का विधान किया जाता है तथा प्रमाण की अपेक्षा से उभयात्मक कहा जाता है। इसी से अनेकान्त मे व्यतिकर नाम का दोष भी नही आता, क्योंकि स्वरूप की अपेक्षा से असत्त्व धर्म का कथन नही किया गया है। स्वरूप की अपेक्षा वस्तु सत् ही है और पररूप की अपेक्षा से वस्तु असत् ही है।

शङ्का— अनेकान्तवाद मे अनवस्था दोष आता है, क्योंकि वस्तु मे रहने वाले सत्त्व और असत्त्व धर्म भी भेदाभेदरूप होगे और वे भेदाभेदरूप भी अपर भेदाभेदात्मक होगे ?

समाधान— उक्त कथन भी अविचारपूर्ण है, क्योकि द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा में वस्तु को अभेदात्मक कहा जाता है। वह अभेद द्रव्यरूप ही है, उसका कोई अन्य द्रव्यान्तर रूप नही है। इसी तरह पर्यायार्थिक नय की विवक्षा मे वस्तु भेदात्मक है। वह भेद पर्याय ही है, उसका कोई अन्य पर्यायान्तर रूप नही है, जिससे अनवस्था का प्रसग उपस्थित हो। अपेक्षा भेद से ही प्रतिनियत धर्म की व्यवस्था है। प्रमाण की विवक्षा होने पर वस्तु अनेकान्तात्मक है। उसमें अनवस्था दोष नही है। जहाँ मूल की क्षति होती है, वही अनवस्था दोष होता है। अनेकान्त में उसका अभाव है, क्योंकि व्यवहार में उपयोगी स्वरूप को ही मूल कहते हैं। वह मूल है द्रव्य, पर्याय अथवा द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु। वह वस्तु नय और प्रमाण की प्रधानता से सिद्ध है, अर्थात् नय की प्रधानता मे वस्तु द्रव्यरूप या पर्यायरूप सिद्ध होती है और प्रमाण की प्रधानता में

द्रव्यपर्यायात्मक सिद्ध होती है और इस तरह से वह व्यवहारोपयोगी होती है । वस्तु में पाये जाने वाले अनन्त धर्म व्यवहार में अनुपयोगी नही हैं, अतः उनमे अनवस्था दोष नही है । जानने की शक्ति की कमी होने से ही वस्तु धर्मो मे अनवस्था प्रतीत होती है । किसी में उसकी शक्ति की पूर्णता होने पर तो सभी सुस्थित हो जाता है, क्योकि उस सर्वज्ञाता का ज्ञान समस्त प्रमाण और प्रमेयो के प्रपञ्च को जानता है । अत. अनेकान्त मे अनवस्था दोष सम्भव नही है ।

शङ्का— अनेकान्तात्मक वस्तु मे 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार का निर्णय न हो सकने से सशय बना रहता है, तब कैसे उसे माना जा सकता है ?

समाधान— नही, क्योकि नय की अपेक्षा होने पर स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा सब सत् ही है और पररूपादि चतुष्टय की अपेक्षा सब असत् ही है— इस प्रकार का निर्णय रहता ही है । तथा प्रमाण की अपेक्षा सब अनेकान्तात्मक है— यह भी निर्णय रहता ही है । असत् के आरोप का नाम **संशय** है, किन्तु अनेकान्त असत् नही है, वह तो प्रमाण से सिद्ध है । अत उभयात्मक वस्तु का ग्रहण सशयरूप नही है । इसी से वस्तु का अभाव भी नही है । क्योकि जो निर्णीत होता है, वह भावात्मक है । अत वस्तु विरोध आदि दोषो से रहित अनेकान्तात्मक है तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है । ये उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य भी प्रत्येक भूत, वर्तमान और भाविकाल की अपेक्षा तीन भेद रूप होने से नौ भेद होते हैं— वस्तु स्थित थी, स्थित है, स्थित रहेगी, उत्पन्न हुई, उत्पन्न हो रही है, उत्पन्न होगी, नष्ट हुई, नष्ट हो रही है, नष्ट होगी,— इन स्थित आदि नौ भेदो मे से भी प्रत्येक के नौ-नौ भेद होने से ८१ भेद होते है । इनका विवेचन आचार्य **विद्यानन्द** ने अपनी **अष्टसहस्री** मे ११वी कारिका की व्याख्या मे किया है ।[१] इस प्रकार द्रव्य पर्यायात्मक अर्थ ही प्रमाण का विषय होता है ॥

॥ प्रथम प्रमाणप्रवेश विषय नाम द्वितीयपरिच्छेद समाप्त हुआ ॥

१ एतेन जीवादिवस्तु तिष्ठति स्थित स्थास्यति, विनश्यति विनष्ट विनङ्क्ष्यति, उत्पद्यते उत्पन्नमुत्पत्स्यते चेति प्रदर्शित, कथञ्चित्तदभिन्नस्थित्यादीनामन्यथा स्थास्यत्यादिव्यवस्थानुपपत्ते । तथा चैतेषा नवानामपि विकल्पाना प्रत्येक नवविकल्पतोपपत्तेरेकाशीतिविकल्प वस्तूह्य, तदभिन्नस्थित्यादिपर्यायाणामपि तावद्धाविकल्पादनुपरमसिद्धे ।

— अष्टसहस्री, कारिका ११ की व्याख्या, पृष्ठ ११३ ।

प्रथम प्रमाणप्रवेश : तृतीय परोक्षपरिच्छेद

अब परोक्ष प्रमाण के भेद कहते हैं—

ज्ञानमाद्यं मतिस्संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधनम् ॥१०॥
प्राङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ।

अर्थ—मति, स्मृति, सज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोधज्ञान नामयोजना से पहले आद्य अर्थात् साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है और शब्दयोजना होने पर श्रुत अर्थात् परोक्ष है ॥

विशेषार्थ- स्वामी **विद्यानन्द** ने अपने **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक**(१ २०) मे **'अत्रा-कलङ्कदेवा: प्राहु:'** लिखकर उक्त कारिका को उद्धृत किया है । उसमें **'मति:'** के स्थान मे **'स्मृति:'** पाठ है । किन्तु **न्यायकुमुदचन्द्र** मे उक्त पाठ ही है और **'च'** शब्द से स्मृति का ग्रहण किया गया है । **षट्खण्डागम** के वर्गणाखण्ड के प्रकृति अनुयोगद्वार में ज्ञानावरणीय कर्म के भेद-प्रभेद बतलाते हुए अभिनिबोध के अवग्रहादि भेदो के बतलाने के पश्चात् एक सूत्र द्वारा कहा है कि उसी अभिनिबोध ज्ञानावरणीय कर्म की अन्य प्ररूपणा की जाती है । और उसके पश्चात् अवग्रहादिज्ञानों के पर्याय शब्द बतलाने के पश्चात् सज्ञा[2], स्मृति, मति और चिन्ता को भी अभिनिबोध का ही एकार्थवाची कहा है । तदनुसार **तत्त्वार्थसूत्र**[3] मे अभिनिबोध के स्थान मे मतिज्ञान को रखकर और अवग्रहादि को मतिज्ञान के भेद बतलाकर स्मृति, सज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध को उसके ही पर्यायान्तर बतलाया है । आगमिक परम्परा के अनुसार ये सभी ज्ञान परोक्ष है, क्योकि ये इन्द्रियादि पर-वस्तुओ की सहायता से उत्पन्न होते है । प्रत्यक्ष और परोक्ष की व्याख्या आचार्य **कुन्दकुन्द** ने **प्रवचनसार** (१ ५८) में इस प्रकार की है—जो पर की सहायता से वस्तु का ज्ञान होता है वह **परोक्ष** है और जो केवल आत्मा के द्वारा वस्तु का ज्ञान होता है वह **प्रत्यक्ष** है । जैन परम्परा मे प्रत्यक्ष और परोक्ष का यही लक्षण माना जाता है । किन्तु अन्य सभी दर्शनो में इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है । इसी से **पूज्यपाद स्वामी** ने अपनी **सर्वार्थसिद्धि** में **'प्रत्यक्षमन्यत्'**(१/१२) सूत्र की टीका मे

१. ' ... बोधिकम्' — न्यायकुमुदचन्द्र, भाग २, पृष्ठ ४०३।
२ सण्णा सदी मदी चिता चीद ॥४१॥ षट्खण्डागम, पु १३, पृ. २४४।
३ 'मति· स्मृति संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्' १/१३ ।

यह शका उठाई है कि 'इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है और अतीन्द्रिय ज्ञान परोक्ष है' ऐसा निर्विवाद लक्षण मानना चाहिये । और उसका समाधान करते हुए लिखा है कि—ऐसा लक्षण करने से तो सर्वज्ञ का ज्ञान प्रत्यक्ष न कहलाकर परोक्ष कहलायेगा, क्योंकि सर्वज्ञ का ज्ञान इन्द्रियजन्य नही होता है आदि।

आचार्य **अकलङ्कदेव** ने भी **तत्त्वार्थवार्तिक** में उक्त सूत्र की व्याख्या मे उक्त शका को उठाते हुए विस्तार से इस बात को बतलाया है कि न्याय-वैशेषिक, साख्य, बौद्ध आदि सभी दर्शन इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं । और सर्वार्थसिद्धिकार के अनुसार ही उन्होने उसका समाधान किया है । इससे प्रकट है कि उस समय मे जैन दार्शनिकों के सामने एक समस्या यह उत्पन्न हो गई थी कि जिस इन्द्रियजन्य ज्ञान को अन्य दार्शनिक प्रत्यक्ष कहते थे उसे जैनदर्शन परोक्ष कहता था और इस तरह इस विषय में उसका किसी अन्य दर्शन से मेल नही खाता था । अकलङ्कदेव ने इन्द्रियजन्य ज्ञान को साव्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम देकर इस समस्या को हमेशा के लिये सुलझा दिया । इससे एक ओर उसे परोक्ष कहे जाने पर जो विसवाद पैदा किया जाता था, उससे भी छुटकारा मिला और दूसरी ओर आगमिक परम्परा मे भी कोई बाधा नही आई, क्योकि साव्यवहारिक प्रत्यक्ष का मतलब है— पारमार्थिक प्रत्यक्ष नही, किन्तु चूकि व्यवहार मे उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है, अत वह साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है और उसके भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा । इस तरह आगमिक परम्परा मे जिसे मतिज्ञान कहा है, उसे ही दार्शनिकपरम्परा मे साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है । अब रहे स्मृति, संज्ञा चिन्ता और अभिनिबोध, जिन्हे **तत्त्वार्थसूत्र** मे **षट्खण्डागम** के अनुसार मतिज्ञान के ही पर्यायान्तर कहा है । जब ये साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहे जाने वाले मतिज्ञान के ही पर्यायान्तर है तब इन्हे भी साव्यवहारिक प्रत्यक्ष सज्ञा मिलनी चाहिये । इसी से **अकलङ्कदेव** ने[१] **लघीयस्त्रय** की ६१ वी कारिका की स्वोपज्ञ विवृति मे स्मृति, सज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध को अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा है । आशय यह है कि साव्यवहारिक प्रत्यक्ष अथवा मतिज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है, अत उसके दो भेद है—इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष अवग्रह आदि चारों ज्ञान

१ 'इन्द्रियार्थज्ञान स्पष्ट हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं प्रादेशिक प्रत्यक्षम् अवग्रहेहावायधारणात्मकम् । अनिन्द्रियप्रत्यक्ष स्मृतिसज्ञाचिन्ताभिनिबोधात्मकम्'— न्यायकुमुदचन्द्र, भाग २, पृष्ठ ६८२ ।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष के भेद हैं, क्योकि इनमें इन्द्रियों की प्रधानता रहती है और स्मृति आदि चारो ज्ञान अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष हैं, क्योकि उनमें मन की प्रधानता रहती है। किन्तु प्रस्तुत कारिका मे **अकलङ्कदेव** ने उन्हें शब्दयोजना से पूर्व तो साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है और शब्दयोजना सहित होने पर श्रुतज्ञान होने से परोक्ष कहा है।

आशय यह है कि **पूज्यपाद स्वामी** ने अपनी **सर्वार्थसिद्धि**[१] में '**प्रमाणनयैरधिगमः**' (१/६) सूत्र की व्याख्या मे प्रमाण के दो भेद किये हैं—स्वार्थ और परार्थ। तथा मति, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान को स्वार्थ कहा हैं और श्रुत को स्वार्थ भी कहा है और परार्थ भी कहा है। ज्ञानात्मकश्रुत स्वार्थ है और वचनात्मक श्रुत परार्थ है।

जिससे ज्ञाता स्वय जानता है उसे **स्वार्थ** कहते हैं और जिससे दूसरों को ज्ञान कराता है उसे **परार्थ** कहते हैं। परार्थ का साधन तो मुख्यरूप से वचन या शब्द ही है और शब्द ससृष्ट ज्ञान श्रुतज्ञान ही होता है तथा श्रुतज्ञान तो परोक्ष ही है। अत अकलङ्कदेव के अनुसार स्मृति आदि ज्ञान तभी तक साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है जब तक उनमे शब्दयोजना नही होती, शब्दयोजना होने पर वे सभी ज्ञान श्रुतज्ञान होने से परोक्ष ही कहे जायेगे।

यहाँ 'शब्दयोजना सहित ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं।' इसका स्पष्टीकरण करना उचित होगा। सस्कृत भाषा की जिस 'श्रु' धातु से श्रुत बना है उसका अर्थ होता है—'सुनना'। अत जो सुना जाता है वह श्रुत है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार श्रुत का अर्थ शब्द होता है, इसी से द्वादशाङ्गवाणी को भी श्रुत कहते है, क्योकि तीर्थङ्कर के मुख से उसे गणधर ने सुना था। **तत्त्वार्थसूत्र** मे '**श्रुत मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्**'(१/२०) सूत्र के द्वारा बारह अगो तथा अगबाह्यो को ही श्रुत के भेद गिनाया है। अत. यह स्पष्ट है कि श्रुतज्ञान मे शब्द का ही प्राधान्य स्वीकार किया गया है। **सर्वार्थसिद्धि** टीका मे भी जो श्रुतपूर्वक भी श्रुतज्ञान के होने का उदाहरण दिया है, उससे भी इसी बात का समर्थन होता है। उसमे कहा है— 'घट' शब्द को सुनकर और फिर घट पदार्थ के साथ उसे सम्बद्ध करके कि 'यह घट है' पश्चात् जो यह ज्ञान होता है कि यह घट जल धारण के काम आता है', यह श्रुतपूर्वक श्रुत है। इस उदाहरण से भी यही स्पष्ट होता है कि श्रुतज्ञान मे शब्द की प्रधानता रही है। सम्भवतया इसी से **अकलङ्कदेव** ने उक्त कारिका

१ प्रमाण द्विविध—स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं प्रमाणं श्रुतवर्ज्यम्। श्रुत पुन स्वार्थं भवति परार्थं च। ज्ञानात्मक स्वार्थं वचनात्मक परार्थम्।' — सर्वार्थसिद्धि, १/६ की व्याख्या।

मे शब्द-योजना सहित स्मृति आदि ज्ञानों को श्रुतज्ञान और शब्दयोजना से पूर्व मतिज्ञान या साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है ।

अकलङ्क के प्रमुख टीकाकार आचार्य विद्यानन्दने अपने **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक**[१] मे **तत्त्वार्थसूत्र** के उक्त (१/२०) सूत्र की व्याख्या में **अकलङ्कदेव** के उक्त कथन की समीक्षा की है । **अकलङ्कदेव** के नाम के साथ उक्त **'ज्ञानमाद्यम्'** आदि कारिका को उद्धृत करके उन्होने लिखा है कि इसमे विचारणीय यह है कि आद्य मतिज्ञान से लेकर आभिनिबोधिक पर्यन्त ज्ञान शब्दयोजना सहित होने से ही श्रुतज्ञान होते है अथवा शब्दयोजना सहित होने से श्रुतज्ञान ही होते है ? यदि शब्द योजना सहित होने से श्रुतज्ञान ही होते है ऐसा नियम किया जाता है तो उसमे कोई विरोध नही है । क्योकि ऐसा नियम करने से शब्द ससृष्ट ज्ञान के अश्रुतज्ञान होने का व्यवच्छेद हो जाता है । किन्तु यदि ऐसा नियम किया जाता है कि शब्द-योजना सहित होने से ही ज्ञान श्रुतज्ञान होते है, तब तो श्रोत्रेन्द्रियजन्य मतिज्ञान पूर्वक होने वाले ज्ञान को ही श्रुत कहा जा सकेगा, शेष चक्षु आदि इन्द्रियो से उत्पन्न होने वाला मतिज्ञानपूर्वक जो ज्ञान होता है उसे श्रुत नही कहा जा सकेगा और ऐसा होने पर सिद्धान्त से विरोध आयेगा । 'व्यवहार मे शब्द से होने वाले ज्ञान को **श्रुत** कहते है इस अपेक्षा से यदि उक्त नियम किया है तो उससे इष्ट मे बाधा नही आती, क्योकि चक्षु आदि इन्द्रियो से जन्य मतिज्ञानपूर्वक होने वाले ज्ञान को भी परमार्थ से श्रुत स्वीकार कर लेने से स्वसमय की प्रतिपत्ति सम्यक् रूप से हो जाती है ।'

विद्यानन्द के उक्त कथन का आशय यह है कि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है । और मतिज्ञान पाँचो इन्द्रियो से होता है । यदि ऐसा नियम किया जाता है कि शब्दयोजना सहित ज्ञान को ही श्रुत कहते है तो श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा होने वाला मतिज्ञानपूर्वक जो श्रुतज्ञान होता है केवल वही श्रुतज्ञान कहलायेगा, किन्तु शेष चार इन्द्रियों से होने वाला मतिज्ञानपूर्वक जो श्रुतज्ञान होता है वह श्रुत नही कहलायेगा, क्योकि उसमे शब्दयोजना नही है । किन्तु यदि यह नियम किया जाता है कि शब्दयोजना सहित होने से उक्त ज्ञान श्रुतज्ञान ही है तो कोई बाधा नही आती, क्योकि इस नियम से शब्दयोजना सहित ज्ञानो के भी श्रुतज्ञान होने की मान्यता को कोई हानि नही पहुँचती ।

---

१ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ २३९-२४० ।

इस तरह **आचार्य विद्यानन्द** ने 'मति आदि ज्ञान शब्दयोजना सहित होने से श्रुतज्ञान ही हैं' इस नियम को मान्य किया, किन्तु 'शब्दयोजना सहित होने से ही श्रुतज्ञान हैं' इस नियम को मान्य नही किया। और ऐसा करने से **अकलङ्क** के उक्त कथन में अवश्य ही कुछ बाधा आती है। अत उन्होंने पश्चात् दूसरे नियम को भी मान्य करने के लिये जो युक्ति और आगम उपस्थित किये हैं उनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

उक्त कथन के पश्चात् दार्शनिक **विद्यानन्द** 'अथवा' करके लिखते हैं कि शब्दाद्वैतवादियों का कहना है कि 'लोक में ऐसा कोई ज्ञान नही है जो शब्द के अनुगम के बिना हो', उनके इस एकान्तवाद का निराकरण करने के लिये ही **अकलङ्कदेव** ने उक्त कथन किया है, जो बतलाता है कि मति आदि ज्ञान शब्द के अनुगम के बिना भी होते है।

पुन· शब्दाद्वैतवादियों का खण्डन करके अन्त में **विद्यानन्द** ने 'शब्दयोजना होने से ही श्रुतज्ञान होता है' अकलङ्कदेव के इस कथन का समर्थन करते हुए लिखा [१] है कि—शब्दाद्वैतवादी वाणी के चार प्रकार मानते हैं—वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और सूक्ष्मा। तथा स्याद्वादी जैन वाणी के दो प्रकार मानते हैं—एक द्रव्यवाक् और दूसरा भाववाक्। द्रव्यवाक् के भी दो प्रकार हैं—एक द्रव्यरूप और दूसरा पर्यायरूप। जो पर्यायरूप वाक् है वह श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा सुनी जाती है। शब्दाद्वैतवादियों ने उसी का वैखरी और मध्यमा नाम रख दिया है तथा जो भाषावर्गणा रूप पुद्गल है वह द्रव्यवाक् है। भाववाक् व्यक्तिरूप और शक्तिरूप के भेद से दो प्रकार की है। व्यक्तिरूप भाववाक् को पश्यन्ती कहा जा सकता है। और शब्द ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से विशिष्ट आत्मा मे जो बोलने की शक्ति होती है उसे शक्तिरूप भाववाक् कहते हैं। वही शब्दाद्वैतवादियों की सूक्ष्मावाक् है। इस शक्तिरूप भाववाक् के बिना किसी के भी वचन-प्रवृत्ति का होना असम्भव है। यह शक्ति रूप भाववाक् चित्सामान्य की अपेक्षा सर्वात्मव्यापक है। सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के भी इसका अस्तित्व है, क्योंकि उसके नित्य उद्घाटित निरावरण लब्ध्यक्षर श्रुताज्ञान माना गया है, जो स्पर्शन इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले मति अज्ञान पूर्वक होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि सभी इन्द्रियो से उत्पन्न हुए मतिज्ञान पूर्वक होने वाले श्रुतज्ञानो में अक्षर ज्ञानपना अवश्य

---

१ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ २४१-२४२।

रहता है और इसलिये **अकलङ्कदेव** के इस कथन मे कि 'शब्दयोजना पूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है' कोई विरोध नही आता । युक्ति और आगम से भी इसका समर्थन होता है ।

इस प्रकार **विद्यानन्द स्वामी** ने **अकलङ्कदेव** के उक्त कथन का समर्थन करके भी उसे अपनाया नही है । अपनी **प्रमाणपरीक्षा**[१] मे उन्होने प्रत्यक्ष के इन्दिय प्रत्यक्ष, अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के भेद करके भी इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के भेद अवग्रह आदि ही बतलाये है और स्मृति के अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष होने का निषेध[२] किया है । **लघीयस्त्रय** के टीकाकार **आचार्य प्रभाचन्द्र** ने तो उक्त कारिका का अर्थ ही अन्य प्रकार से किया है । उन्होने लिखा[३] है कि —'शब्दयोजना से पहले जो अस्पष्ट ज्ञान होता है केवल वही श्रुत नही है, किन्तु शब्दयोजना से जो अस्पष्ट ज्ञान होता है वह भी श्रुत है । उसका कारण मतिज्ञान है और स्मृति आदि उसके भेद है ।'

आगे ६१ वी कारिका की विवृति मे **अकलङ्कदेव**[४] ने स्पष्ट रूप से स्मृति आदि को अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा है । उसका व्याख्यान करते हुए **प्रभाचन्द्राचार्य** ने यह शङ्का उठाई है कि 'पहले स्मृति आदि को परोक्ष कहा है तब यहाँ उन्हे प्रत्यक्ष कहने से पूर्वापर विरोध का प्रसग आता है ।' इसका समाधान करते हुए **प्रभाचन्द्राचार्य** ने कहा है कि 'स्मृति आदि के स्वरूप मे स्पष्टता है, अत उन्हे प्रत्यक्ष कहा है । बाह्य पदार्थ के विषय मे तो स्मृति आदि ज्ञान अस्पष्ट होते है, अत उस अपेक्षा से वे परोक्ष ही है ।'[५]

किन्तु **प्रभाचन्द्र** का यह समाधान सुसङ्गत नही है । क्योकि अपने स्वरूप को जानने की अपेक्षा तो सभी ज्ञान स्पष्ट होने से प्रत्यक्ष होते है, यह **अकलङ्कदेव**[६] ने स्वय कहा है । ज्ञानो के प्रत्यक्षत्व और परोक्षत्व की व्यवस्था स्वरूप की स्पष्टता और अस्पष्टता पर अवलम्बित नही है, किन्तु बाह्य अर्थ की स्पष्टता और अस्पष्टता पर अवलम्बित है ।

---

१ प्रमाणपरीक्षा, पृ ६८।

२ 'तत्र तदित्याकारानुभूतार्थविषया स्मृति : अनिन्द्रियप्रत्यक्ष विशदत्वात् सुखादिसवेदनवदित्येके तदसत्'— प्रमाणपरीक्षा, पृ ६९।

३ न्यायकुमुदचन्द्र, भाग २, पृष्ठ ४०४-४०५ ।

४ 'अनिन्द्रियप्रत्यक्ष स्मृतिसज्ञाचिन्ताभिनिबोधात्मकम्' — न्यायकुमुदचन्द्र, भाग २, पृष्ठ ६८२ ।

५ न्यायकुमुदचन्द्र, भाग २, पृष्ठ ६८३ ।

६ 'सर्वसंविते स्वसवेदनस्य कथञ्चित् प्रमाणत्वोपपत्तेस्तदपेक्षाया सर्वं प्रत्यक्षम्' — अष्टशती (अष्टसहस्री, पृष्ठ २४६)।

असल में इस तरह के समाधानों से यही बात प्रमाणित होती है कि जिस तरह से **अकलङ्कदेव** के द्वारा मतिज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम दिये जाने की बात को उत्तरकालीन सभी दिगम्बर और श्वेताम्बर जैनाचार्यों ने एक मत से मान्य किया, उस तरह स्मृति आदि ज्ञानो को भी प्रत्यक्ष कहने की बात को किसी ने भी मान्य नही किया। उन्हे सबने एक मत से परोक्ष ही माना है। अस्तु।

'वह देवदत्त है' इस प्रकार पहले जाने हुए पदार्थ को कालान्तर में स्मरण करने वाले ज्ञान को **स्मृति** कहते है। 'यह वही है' अथवा 'यह उसके समान है' इस प्रकार के ज्ञान को **सज्ञा** अथवा **प्रत्यभिज्ञान** कहते है। प्रत्यभिज्ञान के मुख्य दो भेद है— एकत्व प्रत्यभिज्ञान और सादृश्य प्रत्यभिज्ञान। 'यह वही है' यह एकत्व प्रत्यभिज्ञान है और 'यह उसके समान है' यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है।

किन्ही का कहना है कि 'वह' यह ज्ञान तो स्मृति है, क्योकि पहले जानी हुई वस्तु को विषय करता है। और 'यह' ज्ञान प्रत्यक्ष है। इसी तरह 'यह उसके समान है' इसमे जो 'यह' ज्ञान है वह तो प्रत्यक्ष है और 'उसके समान' रूप जो ज्ञान है वह स्मरण है। अत प्रत्यभिज्ञान नाम का कोई एक ज्ञान नही है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नही है, क्योकि स्मरण और प्रत्यक्ष के मेल से उत्पन्न होने वाला प्रत्यभिज्ञान पूर्वपर्याय और उत्तरपर्याय मे रहने वाले एक द्रव्य को विषय करता है। जैसे पहले देखे हुए किसी आदमी को पुन· देखकर 'यह वही आदमी है, जिसे मैंने पहले देखा था' यह प्रत्यभिज्ञान है। इस प्रकार का ज्ञान स्मृति से हो नही सकता, क्योंकि स्मृति केवल पूर्वपर्याय को ही जान सकती है और न प्रत्यक्ष से ही हो सकता है, क्योकि वह केवल वर्तमान पर्याय को ही विषय करता है। केवल स्मृति और प्रत्यक्ष के मेल से उत्पन्न हुए प्रत्यभिज्ञान से ही इस प्रकार का ज्ञान हो सकता है। अत एकत्व को विषय करने वाला प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष और स्मरण से भिन्न ही है। इसी तरह सादृश्य को भी विषय करने वाला प्रत्यभिज्ञान भी प्रत्यक्ष और स्मरण से भिन्न है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि प्रत्यभिज्ञान के और भी भेद है, क्योकि स्मरण और प्रत्यक्ष के मेल से जितने भी इस प्रकार के ज्ञान उत्पन्न होते है वे सब प्रत्यभिज्ञान में ही सम्मिलित है। जैसे—गौ भैंस से विलक्षण होती है, यह उससे कम है, यह उससे महान् है, यह उससे दूर है, यह उससे ऊँचा है आदि।

साध्य और साधन के अविनाभाव सम्बन्ध को **व्याप्ति** कहते हैं । और उस व्याप्ति को ग्रहण करनेवाले ज्ञान को **तर्क** या **चिन्ता** कहते हैं । जैसे—जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है और जहाँ जहाँ अग्नि नही होती, वहाँ-वहाँ धूम भी नही होता । इसे **अविनाभाव सम्बन्ध** कहते हैं । जो जिसके बिना नही होता उसका उसके साथ अविनाभाव सम्बन्ध होता है । धूम का अग्नि के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है, क्योंकि अग्नि के बिना धूम नहीं होता । इसमें साध्य तो अग्नि है और साधन धूम है । जिससे साध्य की सिद्धि की जाती है, उसे **साधन** कहते हैं । जैसे धूम को उठता देखकर यह जान लेते हैं कि वहाँ अग्नि है । अतः साधन से साध्य के ज्ञान को **अनुमान** कहते हैं ।

इसमें स्मृतिज्ञान प्रत्यभिज्ञान में कारण है, प्रत्यभिज्ञान तर्क का कारण है और तर्क अनुमान का कारण है ॥

किसी का कहना है कि व्याप्ति के ज्ञान के लिये तर्क नाम का प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है । प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से व्याप्ति का ज्ञान हो सकता है । उसके इस कथन का निराकरण करने के लिये कहते हैं—

अविकल्पधिया लिङ्गं न किञ्चित्सम्प्रतीयते ॥११॥
नानुमानादसिद्धत्वात् प्रमाणान्तरमाञ्जसम् ।

अर्थ—निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से लिंग का —साध्य और साधन के अविनाभाव सम्बन्ध का किञ्चित् भी ज्ञान नही होता । और न अनुमान से ही होता है, क्योंकि साध्य और साधन के अविनाभाव सम्बन्ध को जाने बिना अनुमान ही सिद्ध नही होता । अत. तर्क नाम का प्रमाणान्तर वास्तविक है ॥

विशेषार्थ— साध्य के साथ साधन के अविनाभाव को **लिंग** कहते हैं । उसका ज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से नही हो सकता, क्योकि 'वह कालान्तर और देशान्तर में जितना भी धूम है वह सब अग्नि का ही कार्य है, उसी से उत्पन्न होता है, अन्य किसी भी पदार्थ से उत्पन्न नही होता इस प्रकार के व्यापार को करने में असमर्थ है । क्योंकि वह निर्विकल्पक है । रहा सविकल्पक प्रत्यक्ष सो उसका काम तो केवल सम्मुख विद्यमान धूम और अग्नि को जान लेना मात्र है । सब देशों और सब कालों में धूम और अग्नि के अविनाभाव सम्बन्ध को स्थिर करना उसकी सामर्थ्य से बाहर है । अत प्रत्यक्ष तो तर्क का काम कर नही सकता ।

न अनुमान ही कर सकता है । क्योंकि साध्य और साधन के अविनाभाव सम्बन्ध के ज्ञान पूर्वक ही अनुमान प्रमाण होता है, जैसे—कहीं धुआँ निकलता देखकर यह जानना कि वहाँ अग्नि है, यह अनुमान ज्ञान है । इस तरह का ज्ञान उसी व्यक्ति को हो सकता है, जिसे धूम और अग्नि के अविनाभाव सम्बन्ध का ज्ञान होता है । अब प्रश्न यह है कि जिस अविनाभाव सम्बन्ध को जाने बिना अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति ही नही हो सकती, उस अविनाभाव सम्बन्ध को यदि अनुमान जानता है तो वही अनुमान जानता है जिसका वह अविनाभाव सम्बन्ध है या दूसरा अनुमान ? यदि कहोगे कि अपने अविनाभाव सम्बन्ध को वही अनुमान स्वयं जान लेता है तो परस्पराश्रय नाम का दोष आता है । क्योंकि साधन का साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध सिद्ध होने पर अनुमान की उत्पत्ति हो सकती है और अनुमान की उत्पत्ति होने पर साधन और साध्य का अविनाभाव सम्बन्ध सिद्ध हो सकता है ।

यदि कहोगे कि उस अनुमान के अविनाभाव सम्बन्ध को दूसरा अनुमान जानता है तो उस दूसरे अनुमान के अविनाभाव सम्बन्ध को कौन जानता है ? यदि कहोगे तीसरा अनुमान जानता है तो पुनः प्रश्न होता है कि तीसरे अनुमान की व्याप्ति को कौन जानता है ? यदि कहोगे कि चौथा अनुमान जानता है तो पुनः वही प्रश्न और वही उत्तर होने से अनवस्था नाम का दोष आता है । क्योंकि साध्य और साधन की व्याप्ति के सिद्ध हुए बिना कोई अनुमान बन ही नही सकता ।अतः बौद्धों का यह कहना कि प्रत्यक्ष और अनुमान के सिवाय तीसरा कोई प्रमाण नही है, अनुचित है । क्योकि व्याप्ति का ज्ञान इन दोनों प्रमाणों से नही हो सकता और उसके लिये तर्क नाम का प्रमाण मानना आवश्यक है, अन्यथा अनुमान प्रमाण की उत्पत्ति ही नही हो सकती ॥

अब अनुमान प्रमाण का स्वरूप बतलाते हैं—

लिङ्गात्साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात् ॥१२॥
लिङ्गिधीरनुमानं तत्फलं हानादिबुद्धयः ।

अर्थ—साध्य के साथ अविनाभाव नियम का पूरी तरह से निश्चय ही हेतु का एकमात्र लक्षण है । और ऐसे हेतु से किसी स्थान विशेष में साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं । उस अनुमान का फल जानी हुई वस्तु को छोड़ना या ग्रहण करना आदि है ॥

विशेषार्थ—हेतु से साध्य के जानने को **अनुमान** कहते है । जैसे धूम को देखकर अग्नि को जानना अनुमान है । इस अनुमान के मुख्य अग दो है—एक साधन और दूसरा साध्य । साधन को ही हेतु कहते है । जिस हेतु का अपने साध्य के साथ अविनाभावनियम सुनिश्चित होता है वही हेतु समीचीन माना जाता है । जैनदर्शन मे हेतु का यही लक्षण माना गया है ।

किन्तु बौद्धदर्शन मे पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्ष असत्त्व—इन तीन रूपो को हेतु का लक्षण माना गया है । साध्य धर्म से विशिष्ट धर्मी को **पक्ष** कहते है और हेतु के उसमे रहने को **पक्षधर्मत्व** कहते है । जैसे— यह पर्वत अग्निवाला है, धूमवाला होने से । जो जो धूमवाला होता है, वह वह अग्निवाला होता है, जैसे रसोईघर । और जो जो अग्निवाला नही होता वह वह धूमवाला भी नही होता, जैसे तालाब । इस अनुमान मे पर्वत पक्ष है और उसमे धूम रहता है, अत धूम हेतु मे पक्षधर्मत्व है । साध्य के समानजातीय धर्मी **को सपक्ष** कहते है । जैसे— ऊपर के अनुमान मे रसोईघर । उसमे भी धूम रहता ही है । यही सपक्षसत्त्व है । और साध्य से विरुद्धधर्मी **को विपक्ष** कहते है, जैसे— ऊपर के अनुमान मे तालाब । तालाब मे पानी भरा होने से आग और धुआँ—दोनों ही नही होते, यही विपक्ष असत्त्व है । **बौद्धों** का कहना है कि ये तीनो रूप मिलकर ही हेतु के लक्षण होते है । यदि इन तीनो मे से कोई एक भी हेतु मे न हो तो वह हेतु हेत्वाभास होता है । अर्थात् वह सदोष माना जाता है ।

किन्तु जैनों का कहना है कि पक्षधर्मत्व आदि तीनो हेतु के लक्षण नही हो सकते । क्योंकि सदोष हेतु मे भी ये तीनो पाये जाते हैं । जैसे देवदत्त के अन्य लड़को को काले रग का देखकर किसी ने यह अनुमान किया कि देवदत्त की स्त्री के गर्भ मे जो बालक है, वह काला है, देवदत्त का पुत्र होने से,जैसे देवदत्त के अन्य पुत्र । इस अनुमान मे गर्भस्थ बालक पक्ष है, उसमे देवदत्त का पुत्रत्वरूप हेतु रहता ही है, तथा देवदत्त के अन्य पुत्र सपक्ष है, उनमे भी देवदत्त का पुत्रत्वरूप हेतु रहता ही है, विपक्ष है अन्य लोगो के गौरवर्ण पुत्र, उनमे देवदत्त का पुत्रपना रूप हेतु नही रहता । फिर भी यह हेतु सदोष है, क्योकि और लड़को के काले होते हुए गर्भस्थ बच्चा गौरवर्ण भी हो सकता है, देवदत्त के पुत्रत्व का काले रग के साथ कोई अविनाभावनियम नही है । और हेतु का एकमात्र लक्षण है अविनाभावनियम । साध्य के साथ जिसका अविनाभावनियम सुनिश्चित हो वही हेतु सम्यग् हेतु होता है ।

इस पर से बौद्धों[1] का कहना है कि इस बात को तो हम मानते हैं, किन्तु इस प्रकार का अविनाभावरूप नियम उन्ही में होता है जिनका परस्पर में या तो तादात्म्य सम्बन्ध होता है या तदुत्पत्ति सम्बन्ध होता है। जैसे बौद्धमतानुसार 'सब क्षणिक है, क्योंकि सत् है।' इस अनुमान में सत् की क्षणिकत्व के साथ व्याप्ति है और इन दोनो का तादात्म्य सम्बन्ध है। तथा धूम और अग्नि का तदुत्पत्ति सम्बन्ध है, क्योकि अग्नि से धूम उत्पन्न होता है। अत बौद्धमतानुसार या तो स्वभाव हेतु होता है या कार्य हेतु होता है। इस तरह हेतु के दो ही प्रकार होते हैं। ऊपर के अनुमान में 'सत् होने से' यह स्वभाव हेतु है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु सत्स्वभाववाली है और 'धूम' कार्य हेतु है, क्योकि वह साध्य अग्नि का कार्य है।

किन्तु अकलङ्कदेव[2] का कहना है कि साध्य के अभाव मे साधन का अभाव रूप जो अन्यथानुपपत्ति नियम है, उसके बिना तादात्म्य और तदुत्पत्ति को भी जानना शक्य नही है। वृक्षत्व और आम्रत्व में तादात्म्य सम्बन्ध के होते हुए भी अविनाभाव के बल से ही वृक्षत्व के प्रति आम्रत्व को तो गमकपना है, किन्तु आम्रत्व के प्रति वृक्षत्व को गमकपना नही है। क्योंकि जहाँ आम्रत्व होता है वहाँ वृक्षत्व अवश्य होता है, किन्तु जहाँ वृक्षत्व होता है वहाँ आम्रत्व हो भी सकता है और नही भी हो सकता, क्योकि वृक्षत्व तो सभी प्रकार के वृक्षों में रहता है, किन्तु आम्रत्व केवल आम के ही वृक्षों में रहता है।

तथा तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्ध के अभाव में भी अविनाभाव सम्बन्ध के बल से गम्यगमकपना देखा जाता है। 'यहाँ छाया है, वृक्ष होने से' इस अनुमान में वृक्षरूप हेतु छाया रूप साध्य का न तो स्वभाव है और न कार्य है। चूकि वृक्ष और छाया मे देशादि का भेद पाया जाता है, इसलिये वृक्ष छाया का स्वभाव नही है और वृक्ष तथा छाया में सहभाव होने से वृक्ष छाया का कार्य भी नही है। तथा वृक्ष से छाया का अनुमान करने में कोई विसवाद भी नही है, क्योंकि जहाँ वृक्ष होता है वहाँ छाया अवश्य पायी जाती है॥

इसी विषय मे ग्रन्थकार अन्य दृष्टान्त देते हैं—

चन्द्रादेर्जलचन्द्रादिप्रतिपत्तिस्तथाऽनुमा ॥१३॥

---

१ न्यायकुमुदचन्द्र, भाग २, पृष्ठ ४४४।

२ न्यायकुमुदचन्द्र, भाग २, पृष्ठ ४४९।

अर्थ—चन्द्रमा-सूर्य वगैरह से जल में उनके प्रतिबिम्ब का अनुमान अन्यथानुपपत्ति के द्वारा होता है । अथवा जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के द्वारा आकाश में स्थित चन्द्रमा का अनुमान किया जाता है ॥१३ ॥

विशेषार्थ—आकाश मे स्थित चन्द्रमा न तो जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा का स्वभाव है और न कार्य है । फिर भी जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा से आकाश मे स्थित चन्द्रमा का निर्दोष ज्ञान होता है । अत **बौद्धों** ने जो स्वभाव और कार्य के भेद से हेतु के दो ही प्रकार माने हैं, वह ठीक नही है, इन दोनों के सिवाय एक कारण हेतु भी मानना आवश्यक है । क्योंकि उक्त दृष्टान्तो के अनुसार कारण से भी कार्य का अनुमान होता है ॥१३ ॥

आगे कुछ अन्य भी हेतुओ को बतलाते है—

भविष्यत् प्रतिपद्येत शकटं कृत्तिकोदयात् ।
श्व आदित्य उदेतेति ग्रहणं वा भविष्यति ॥१४ ॥

अर्थ—मनुष्य आकाश मे कृत्तिका नक्षत्र के उदय से भविष्य मे उदित होने वाले शकट नक्षत्र का अनुमान करते हैं । आज के सूर्य के उदय से कल के सूर्योदय का अनुमान करते है और अमुक दिन अमुक समय मे ग्रहण होगा, ऐसा अनुमान करते है ॥१४ ॥

विशेषार्थ—एक मूहूर्त के पश्चात् शकट (रोहिणी) नक्षत्र का उदय होगा, कृत्तिका का उदय होने से । इस अनुमान में शकट धर्मी है, एक मूहूर्त के पश्चात् उदय होगा यह साध्य धर्म है, और 'कृत्तिका का उदय होने से' यह साधन है । कृत्तिका नक्षत्र का उदय न तो शकट के उदय का कार्य है और न स्वभाव है । किन्तु केवल अविनाभाव के बल से वह अपने उत्तरचर शकट के उदय का बोध कराता है । क्योंकि ऐसा नियम है कि कृत्तिका के उदय से एक मूहूर्त पश्चात् शकट नक्षत्र का उदय होता है । इसी तरह 'कल प्रात. सूर्य का उदय होगा, क्योंकि आज सूर्योदय हुआ है' या 'कल ग्रहण लगेगा, क्योंकि अमुक प्रकार का गणित बतलाता है' इस प्रकार के अनुमानो में साध्य और साधन मे तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्ध नही पाया जाता है, फिर भी अविनाभाव के बल से गम्यगमकपना सुनिश्चित है । अतः स्वभाव हेतु, कार्य हेतु और कारण हेतु की तरह पूर्वचर और उत्तरचर नामक हेतु भी मानने चाहिये । ऊपर के उदाहरणों में कृत्तिका नक्षत्र

शकट का पूर्वचर है, क्योंकि पहले कृत्तिका का उदय होता है, पश्चात् शकट का उदय होता है। इसी तरह कृत्तिका नक्षत्र भरणि नक्षत्र का उत्तरचर है। भरणि के उदय के पश्चात् ही कृत्तिका का उदय होता है। अत 'भरणि का उदय हो चुका, क्योंकि कृत्तिका का उदय हो चुका' इस अनुमान में 'कृत्तिका का उदय हो चुका' यह हेतु उत्तचर है। इस उत्तरचर हेतु से 'भरणि का उदय हो चुका' इस साध्य का अनुमान किया जाता है ॥१४॥

'दृश्यानुपलब्धि से ही साध्य का ज्ञान होता है, अदृश्यानुपब्धि से नहीं' आगे इस नियम का निराकरण करते है—

अदृश्यपरचित्तादेरभावं लौकिका विदुः ।
तदाकारविकारादेरन्यथाऽनुपपत्तितः ॥१५॥

अर्थ—लौकिक जन भी अदृश्य— न दिखाई दे सकने योग्य दूसरे के चैतन्य आदि के अभाव को अदृश्य परचित्त आदि के सहभावी शरीरगत उष्णस्पर्शादि के न पाये जाने से जान लेते हैं। क्योकि शरीर मे जीव के अस्तित्व का और उष्णता आदि का अविनाभाव सम्बन्ध है। यत शरीर मे उष्णता आदि धर्म तभी तक पाये जाते है जब तक उसमे जीव रहता है ॥१५॥

विशेषार्थ—जो वस्तु दिखाई देने योग्य होते हुए भी दिखाई नहीं देती उसके अभाव को **दृश्यानुपलब्धि** कहते हैं। और जो वस्तु न दिखाई देने योग्य होती है उसके अभाव को **अदृश्यानुपलब्धि** कहते हैं। बौद्ध आदि का ऐसा मत है कि दृश्यानुपलब्धि के द्वारा तो किसी वस्तु के अभाव की सिद्धि की जा सकती है, जैसे— इस भूतल पर घट नही है, क्योंकि दिखाई देने योग्य होते हुए भी दिखाई नही देता। किन्तु अदृश्यानुपलब्धि के द्वारा किसी वस्तु के अभाव की सिद्धि नहीं की जा सकती। जैसे—यहाँ भूत नही है, क्योकि दिखाई नही देता। यह अनुमान युक्तिसगत नही है, क्योंकि भूत-पिशाच वगैरह को इन आँखों से घट आदि की तरह नहीं देखा जा सकता है। अत उनके दिखाई न देने पर भी यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि वे यहाँ नही ही हैं। इसके विरोध में **अकलङ्कदेव** का कहना है कि अदृश्य— न दिखाई देने के योग्य वस्तु के अभाव का भी निश्चित ज्ञान उसके अविनाभावी किन्ही विशेष चिह्नो के अभाव को देखकर किया जा सकता है। जैसे प्राणी के शरीर में रहने वाला

या पाया जाने वाला चैतन्य अदृश्य है, उसे देखा नही जा सकता है । फिर भी चैतन्य के साथ पाये जाने वाले कुछ ऐसे चिह्न हैं जिनके अभाव को देखकर हम यह निर्णय कर लेते हैं कि अमुक प्राणी के शरीर में चैतन्य नही है अर्थात् वह मर गया है, क्योकि उसके शरीर मे उष्णता, हलन-चलन आदि नही पाये जाते हैं, अत. सर्वत्र अन्यथानुपपत्ति या अविनाभाव नियम के द्वारा ही गम्यगमकभाव देखा जाता है, वह अन्यथानुपपत्ति अदृश्यानुपलब्धि मे भी है । इसलिये अदृश्यानुपलब्धि रूप हेतु से भी अभाव का अनुमान किया जा सकता है ।

इसके सिवाय **अकलङ्कदेव** का **बौद्धो** के लिये यह भी कहना[१] है कि अदृश्यानुपलब्धि से वस्तु के अभाव का ज्ञान नही होता या केवल वस्तु के अस्तित्व मे सशय ही होता है' ऐसा एकान्तरूप से मानने पर **बौद्ध** केवल परचित्त के अभाव की ही सिद्धि नही कर सकता, बल्कि स्वचित्त के सद्भाव को भी सिद्ध नही कर सकता । क्योकि बौद्धदर्शन के अनुसार स्वचित्त का सजातीय और विजातीय से व्यावृत्त (भिन्न) मध्यक्षण रूप जो अनश तत्त्व है, वह अदृश्य है । और ऐसी स्थिति मे अर्थात् स्वचित्त के सद्भाव की सिद्धि न कर सकने पर किसी भी प्रमाण से पदार्थ के क्षणिकत्व की सिद्धि नही की जा सकती है । क्योकि अनुमान के लिये आवश्यक धर्मी, हेतु, दृष्टान्त आदि असिद्ध है । और उनके असिद्ध होने का कारण यह है कि बाह्य अथवा आभ्यन्तर अनशतत्त्व के अदृश्य होने के कारण असिद्ध रहते हुए धर्मी आदि की सिद्धि नही हो सकती और धर्मी आदि के असिद्ध रहते हुए क्षणभग की सिद्धि कैसे हो सकती है ? अत अनशतत्त्व से विपरीत जो साशतत्त्व है, जो कि अनेक पर्यायों मे अनुगताकाररूप से व्यापी अभेद रूप द्रव्य है अथवा अनेक अवयवो मे कथञ्चित् तादात्म्य रूप से व्यापी अभेदरूप स्कन्ध है उसी के क्षणिकत्व की सिद्धि होगी, बौद्धाभिमत निरश तत्त्व की नही ॥१५॥

इस पर **बौद्धो** का कहना है कि अभेदरूप तत्त्व का तो पूर्णरूप से परिज्ञान सविकल्पक प्रत्यक्ष से हो जाता है । उसके विषय मे क्षणिकत्व आदि सम्बन्धी अनुमान की क्या आवश्यकता है ? इस शङ्का के निराकरण के लिये **अकलङ्कदेव** कहते है—

वीक्ष्याणुपारिमाण्डल्यक्षणभङ्गाद्यवीक्षणम् ।
स्वसंविद्विषयाकारविवेकानुपलम्भवत् ॥१६॥

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग २, पृष्ठ ४८२ ।

अर्थ—जैसे बौद्धदर्शन मे ज्ञान के स्वरूप का प्रतिभास होने पर बाह्य अर्थाकार निवृत्ति का प्रत्यक्ष से प्रतिभास नही होता, वैसे ही दिखाई दे सकने योग्य स्थूल वस्तु का प्रतिभास होने पर उसके अणुओं की गोलाई का तथा क्षण-क्षण में होने वाले विनाश आदि का प्रतिभास नहीं होता ॥१६ ॥

विशेषार्थ— ऊपर **बौद्ध** ने कहा था कि स्थिर स्थूल रूप वस्तु का ग्रहण तो सविकल्पक प्रत्यक्ष से हो ही जाता है। तब उस वस्तु को परिवर्तनशील क्षणिक सिद्ध करने के लिये अनुमान की आवश्यकता ही क्या है ? उसके उत्तर में **जैनों** का कहना है कि साव्यवहारिक प्रत्यक्ष से स्थिर स्थूल साधारण आकार का ही ग्रहण होता है, उसके क्षणिकत्व को क्षण-क्षण मे होने वाले परिवर्तन रूप विनाश को जानने की शक्ति सविकल्पक प्रत्यक्ष में नही है। योगिप्रत्यक्ष ही उसे जान सकता है। अतः हम लोग प्रत्यक्ष से स्थिर स्थूल वस्तु को जानकर भी उसमे होने वाले क्षणिक परिवर्तन को अनुमान के द्वारा जानते है।

आगे इसके समर्थन मे **बौद्धो** का ही दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जैसे बौद्धमत मे स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञान के स्वरूप का प्रतिभास होने पर भी 'वह ज्ञान बाह्य अर्थाकार से रहित है' इस बात का प्रतिभास नही होता, क्योकि यदि ज्ञान में ग्राह्य आदि आकारो का प्रतिभास हो तो उसी समय प्रतिभासमान स्थूल आदि आकार को भ्रान्त कल्पित किया जा सकता है। किन्तु जब ज्ञान ग्राह्य आदि आकारों से शून्य ही है तब कैसे उसमे भ्रान्तरूप से स्थूल आदि आकारो का प्रतिभास हो सकता है।

साराश यह है कि **शून्यवादी बौद्ध** न तो ज्ञान का कोई अन्य विषय मानता है जो ज्ञान के द्वारा ग्राह्य हो और न किसी को उसका ग्राहक मानता है। अत ग्राह्य-ग्राहकभाव का अभाव होने से ज्ञान स्वय ही प्रकाशित होता है, ऐसा उनका मत है। उसी को लक्ष्य मे रखकर उक्त कथन किया गया है ॥१६ ॥

इस तरह दूसरो के द्वारा माने गये अनुपलब्धि रूप हेतु का निराकरण करके **अकलङ्कदेव** स्वभाव आदि हेतुओ का निराकरण करते हैं—

अनंशं बहिरन्तश्चाप्रत्यक्षं[1] तदभासनात् ।
कस्तत्स्वभावो हेतुः स्यात् किं तत्कार्यं यतोऽनुमा ॥१७॥

१ 'बहिरन्तश्च प्रत्यक्षं' — अकलङ्कग्रन्थत्रयम्, पृष्ठ ६।
— लघीयस्त्रयादिसग्रह, पृष्ठ ३७।
'बहिरन्तश्चाप्रत्यक्ष' — न्यायकुमुदचन्द्र, भाग २, पृष्ठ ४८५।

अर्थ— बाह्य और अभ्यन्तर निरशतत्त्व प्रत्यक्ष का विषय नही है, क्योंकि निरंशतत्त्व की प्रतीति नहीं होती। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष से असिद्ध उस निरशतत्त्व का न तो कोई स्वभावरूप हेतु हो सकता है और न कोई कार्यरूप हेतु हो सकता है, जिनके द्वारा उसको अनुमान से जाना जा सके ॥१७॥

विशेषार्थ—बौद्धदर्शन मे बाह्य और अभ्यन्तर तत्त्व को निरश माना गया है। **अंश** कहते हैं द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के विभाग को। उन अशो से जो रहित होता है उसे **निरंश** कहते हैं। बौद्धदर्शन में स्वलक्षणरूप तत्त्व माना गया है। बौद्धदर्शन के अनुसार उस स्वलक्षण रूप तत्त्व के पूर्व क्षण और अपर क्षण की उपलब्धि नही होती। अत. वह निरश है **जैनों** का कहना है कि ऐसे निरशतत्त्व की प्रत्यक्ष से प्रतीति नही होती। क्योंकि प्रत्यक्ष से द्रव्यादि के विभाग से रहित चेतन या अचेतन तत्त्व का बोध नही होता, किन्तु अपने अनेक अशों मे व्यापी साश वस्तु का ही बोध होता है। इस पर से यह कहा जा सकता है कि ऐसे निरशतत्त्व की प्रतीति अनुमान प्रमाण से होती है तो उसके विरोध मे **जैनो** का कहना है कि ऐसे निरशतत्त्व को अनुमान से जानने के लिये न तो स्वभावहेतु सम्भव है और न कार्यहेतु सम्भव है। क्योंकि कार्यकारणभाव के सिद्ध होने पर कार्यहेतु की प्रतिपत्ति होती है, किन्तु यहाँ कार्यकारणभाव भी नही पाया जाता है।

आशय यह है की **बौद्ध** दो ही प्रमाण मानते है— प्रत्यक्ष और अनुमान। अनुमान हेतुमूलक होता है और हेतु के तीन प्रकार बौद्धदर्शन मे माने गये हैं— अनुपलब्धि, स्वभाव और कार्य। अनुपलब्धि रूप हेतु के विषय मे पूर्व कारिका में कह चुके हैं। शेष दो हेतुओं के विषय में यहाँ कहते हैं। जब स्वभाववान् दृश्य होता है तो उसका स्वभाव भी दृश्य होता है। अत. स्वभाव के द्वारा स्वभाववान् को अनुमान द्वारा जान लिया जाता है। किन्तु वस्तु के अदृश्य होने पर उसका स्वभाव दृश्य नही हो सकता। ऐसी स्थिति में स्वभाव हेतु के द्वारा उस वस्तु को कैसे जाना जा सकता है ? इसी तरह कार्यकारणभाव के सिद्ध होने पर कार्य के द्वारा कारण का अनुमान किया जाता है। जैसे —आग और धुएँ में कार्यकारणभाव सिद्ध है, अत. आग के कार्य धुएँ को देखकर आग का अनुमान किया जाता है। किन्तु निरश तत्त्व के साथ किसी का कार्यकारणभाव भी सिद्ध नही है, क्योकि सर्वथा निरश कार्य करने मे असमर्थ है ॥१७॥

इस पर से बौद्धों का कहना है कि यह सभी कार्य-कारणभाव तथा अनुमान-अनुमेयभाव काल्पनिक हैं, पारमार्थिक नहीं हैं। इसके उत्तर में जैनों का कहना है कि यदि विकल्पबुद्धि सिद्ध हो जाये तो इस व्यवहार को काल्पनिक कहा जा सकता है, किन्तु विकल्पबुद्धि की सिद्धि न तो स्वत होती है और न पर से होती है। इसी बात को आगे कारिका के द्वारा कहते हैं—

धीर्विकल्पाऽविकल्पात्मा बहिरन्तश्च किं पुनः।
निश्चयात्मा स्वतः सिद्ध्येत् परतोऽप्यनवस्थितेः ॥१८॥

अर्थ—बाह्य में सविकल्पक और अभ्यन्तर में निर्विकल्पक विकल्पबुद्धि की सिद्धि स्वत नही हो सकती और अनवस्थादोष के कारण पर से भी सिद्धि नही हो सकती ॥१८॥

विशेषार्थ—बौद्ध अनुमान ज्ञान को बाह्य विषय में विकल्पात्मक तथा स्वरूप मे निर्विकल्पक मानता है तथा सब ज्ञानों के स्वसंवेदन प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक मानता है। स्वय अपने को जानने का नाम **स्वसंवेदन** है। वह स्वसंवेदन निर्विकल्पक होता है। ऐसी स्थिति में अनुमान-अनुमेय व्यवहार का कारण जो सविकल्पक है उसका निश्चय स्वत तो हो नही सकता, क्योंकि स्व के सवेदन को निर्विकल्पक माना है और जो निर्विकल्पक से गृहीत होता है उसकी सिद्धि नही होती, जैसे क्षणत्व आदि। यदि उसका निश्चय दूसरे सविकल्पक से करोगे तो उस दूसरे विकल्प का निश्चय तीसरे से और तीसरे का चौथे से करने से अनवस्था दोष आता है। ऐसी स्थिति मे कार्यकारण आदि व्यवहार की सिद्धि किससे करोगे ? अतः बौद्ध को स्वलक्षण रूप अर्थ के विषय में भी एक ऐसा प्रमाण अवश्य मानना चाहिये जो कथञ्चित् शब्द ससर्ग योग्य प्रतीति का विषय हो ॥१८॥

इस प्रकार अन्य दार्शनिकों के प्रति तर्क नाम के प्रमाणान्तर की आवश्यकता बतलाकर **अकलङ्कदेव** उपमान को प्रमाणान्तर मानने का निषेध करते है—

उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम्।
तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात् संज्ञिप्रतिपादनम् ॥१९॥

अर्थ—यदि प्रसिद्ध अर्थ के साथ सादृश्य से साध्य के साधन को उपमान प्रमाण कहते हैं तो असिद्ध अर्थ के साथ असमानता से जो साध्य का ज्ञान होता है उसे कौन

प्रमाण कहेंगे ? तथा सज्ञा और संज्ञी के सम्बन्ध का जो जोड़रूप ज्ञान होता है उसे क्या नाम देगें ? ॥१९ ॥

विशेषार्थ—मीमांसक और **नैयायिक** उपमान नाम का एक प्रमाण मानते हैं। जिस व्यक्ति ने गौ को देखा है, किन्तु गवय नामक पशु को नही देखा, उसने सुना कि गौ के समान गवय होता है। उसके बाद एक दिन जगल में घूमते हुए उसने गवय को देखा। उसको देखने के बाद उस मनुष्य को 'इसके समान गौ है' इस प्रकार का जो सादृश्य ज्ञान उत्पन्न होता है वह **उपमान प्रमाण** है, ऐसा मीमासक मानते हैं। **नैयायिक** मानते हैं कि 'गौ के समान गवय होता है' इस वाक्य को सुनने के बाद कोई नागरिक जगल में जाता है और वहाँ घूमते हुए गौ के समान पशु को देखकर सुने हुए वाक्य का स्मरण करके यह 'गवय नाम का पशु है' ऐसा ज्ञान करता है, यह उपमान प्रमाण का फल है। जैनों के मतानुसार ये दोनों ही प्रकार के उपमान प्रमाण प्रत्यभिज्ञान नाम के प्रमाण में गर्भित हो जाते हैं। क्योंकि प्रत्यक्ष और स्मरण की सहायता से जो जोड़रूप ज्ञान होता है उसे **प्रत्यभिज्ञान** कहते हैं। 'गौ के समान गवय होता है' इस वाक्य को स्मरण करके और सामने उपस्थित गौ के समान पशु को प्रत्यक्ष देखकर 'इसके समान गौ है' या 'यह गवय नाम का पशु है' इस प्रकार का जो ज्ञान होता है वह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान ही है। यदि इसे उपमान नाम का पृथक् प्रमाण माना जायेगा तो 'वृक्ष से अनजान कोई व्यक्ति किसी से पूछता है कि वृक्ष कैसा होता है' इस बात को मन मे रखकर वह व्यक्ति शाखादि से युक्त पदार्थ को देखकर 'यह वृक्ष है' ऐसा जान लेता है। इस ज्ञान को उपमान से भिन्न प्रमाण मानना होगा, क्योकि इसमें प्रसिद्ध अर्थ के साथ सादृश्य नही है। इसी तरह 'गौ से भैंस विलक्षण होती है' इस बात को मन में रखकर जब वह व्यक्ति गौ से विलक्षण पशु को देककर 'यह भैंस है' ऐसा जानता है तो उसे भी उक्त उपमान से भिन्न प्रमाण मानना होगा, क्योकि यहाँ भी प्रसिद्ध अर्थ के साथ सादृश्य नही है ॥१९ ॥

मीमांसक आदि के प्रति अन्य भी प्रमाणान्तरों को मानने की आपत्ति देते हैं—

प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा सम्बन्धप्रतिपद्यतः ।
तत्प्रमाणं न चेत्सर्वमुपमानं कुतस्तथा ॥२० ॥

अर्थ— प्रत्यक्ष तथा प्रकृत अर्थ से भिन्न-अर्थान्तर की अपेक्षा से जो सम्बन्धज्ञान होता है यदि वह प्रमाण नहीं है तो नैयायिक और मीमांसक आदि के द्वारा माना गया उपमान कैसे प्रमाण हो सकता है ? ॥२० ॥

विशेषार्थ—किसी प्रामाणिक पुरुष के वचनों को हृदय में रखकर जब कोई आदमी उसी प्रकार की वस्तु को देखकर उस वस्तु का नाम जानता है तो वह प्रमाण है या अप्रमाण ? यदि वह प्रमाण है तो उसे प्रमाणान्तर मानना होगा और यदि वह अप्रमाण है तो उपमान को भी अप्रमाण मानना होगा । यदि कहा जायेगा कि उक्त ज्ञान भी उपमान ही है और उसे हम प्रमाण मानते हैं तो जैनों का कहना है कि वह उपमान नही है । जैसे किसी ने किसी से कहा कि इस नगर से पूरब या पश्चिम या दक्षिण अथवा उत्तर मे अमुक नाम का अमुक ग्राम है । इस बात को मन मे रखकर वह व्यक्ति उस दिशा मे जाकर जब उस ग्राम मे पहुँचता है तो वह उस व्यक्ति के कथन के आधार पर उस ग्राम का अमुक नाम है यह ज्ञात करता है । यह ज्ञान उपमान से भिन्न है । अत. इस प्रकार के ज्ञान को भी प्रमाणान्तर मानना होगा । जब आप सज्ञा और सज्ञी के सम्बन्ध के ज्ञान को उपमान नाम का पृथक् प्रमाण स्वीकार करते है तो ये दो हैं, ये तीन हैं, इत्यादि सख्या का बोध कराने वाले ज्ञान को भी पृथक् प्रमाण मानना चाहिये, क्योंकि ये सब ज्ञान भी आपेक्षिक है । सारांश यह है कि सादृश्य के सम्बन्ध से होने वाला ज्ञान यदि प्रमाण है तो वाच्य-वाचक आदि के सम्बन्ध से होने वाला ज्ञान प्रमाण क्यो नही है ? अत सज्ञा और सज्ञी के जोड़ रूप से होने वाले ज्ञान को भी प्रमाणान्तर मानना होगा ॥२० ॥

तथा—

इदमल्पं महद् दूरमासन्नं प्रांशु नेति वा ।
व्यपेक्षातः समक्षेऽर्थे विकल्पः साधनान्तरम् ॥२१ ॥

अर्थ—यह इससे अल्प है, यह इससे महान् है, यह इससे दूर है, यह इससे निकट है, यह इससे ऊँचा है अथवा यह इससे ऊँचा नही है, इस प्रकार प्रत्यक्ष पदार्थ मे उसके प्रतिपक्षी की अपेक्षा से जो निश्चय होता है वह प्रमाणान्तर है, अर्थात् उसे एक स्वतन्त्र प्रमाण मानना चाहिये ॥२१ ॥

विशेषार्थ—ऑवले की अपेक्षा बेल बड़ा है । अमुक कूप की अपेक्षा अमुक पर्वत दूर है, इस प्रकार का प्रत्यक्ष अर्थ में जो आपेक्षिकज्ञान होता है उसे भी उपमान

प्रमाणवादी को पृथक् प्रमाण मानना होगा, क्योंकि उपमान प्रमाण का लक्षण इनमें घटित नही होता। किन्तु जैनों के द्वारा माने गये प्रत्यभिज्ञान नाम के प्रमाण में इन सब का अन्तर्भाव हो जाता है। क्योंकि प्रत्यक्ष और स्मरण की सहायता से जो जोड़रूप ज्ञान होता है उसे **प्रत्यभिज्ञान** कहते हैं। ऊपर लिखे उपमान आदि ज्ञान जोड़रूप हैं और प्रत्यक्ष तथा स्मरण उनमें कारण होते हैं। ऐसी स्थिति में वे प्रत्यभिज्ञान से बाहर कैसे हो सकते हैं ? अत: जैनदर्शन के अनुसार दो ही प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। इन्ही दोनों में अन्य वादियों के द्वारा कल्पित प्रमाणों का अन्तर्भाव हो जाता है ॥२१॥

॥ प्रथम प्रमाणप्रवेश विषय नाम तृतीय परोक्षपरिच्छेद समाप्त ॥

प्रथम प्रमाणप्रवेश : चतुर्थ आगमपरिच्छेद

आगे प्रमाणाभास का कथन करते हुए अकलङ्कदेव कहते हैं कि प्रमाणाभासरूप ज्ञान कथञ्चित् ही प्रमाणाभास होता है, सर्वथा नही—

प्रत्यक्षाभं कथञ्चित्स्यात्प्रमाणं तैमिरादिकम् ।

यद्यथैवाविसंवादि प्रमाणं तत्तथा मतम् ॥२२ ॥

अर्थ—तिमिररोग आदि के कारण उत्पन्न हुआ प्रत्यक्षाभास कथञ्चित् प्रमाण होता है । क्योंकि जो ज्ञान जिस प्रकार से अविसंवादी होता है वह उसी प्रकार से प्रमाण माना गया है ॥२२ ॥

विशेषार्थ— अक्ष अर्थात् इन्द्रिय और मन से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते है । जो ज्ञान प्रत्यक्ष की तरह प्रतीत हो उसे प्रत्यक्षाभ या प्रत्यक्षाभास कहते हैं । तिमिर एक आँख का रोग होता है । तैमिरिक रोगी को एक के स्थान में दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं । इसी तरह अलात को तेजी से घुमाने पर चक्र भ्रान्ति होती है । तेज चलती हुई रेलगाड़ी मे बैठकर बाहर की ओर देखने से वृक्षादि दौड़ते हुए प्रतीत होते हैं । इस प्रकार के भ्रान्तज्ञान सर्वथा प्रमाणाभास नही होते । जैसे तैमिरिक रोगी को होने वाला दो चन्द्रमा का ज्ञान चन्द्रमा के विषय में अप्रमाण नही है केवल उसकी संख्या के विषय मे अप्रमाण है । जो ज्ञान जिस विषय में अविसंवादी होता है वह उस विषय में प्रमाण होता है और जिस विषय में विसवादी होता है उस विषय में अप्रमाण होता हैं । प्रमाण और अप्रमाण की व्यवस्था विषय की यथार्थता और अयथार्थता पर अवलम्बित है । संशय आदि मिथ्याज्ञान भी अपने स्वरूप की अपेक्षा प्रमाण होते हैं और विषय की अपेक्षा अप्रमाण होते है । अतः ज्ञानों के प्रमाणत्व और प्रमाणाभासत्व की व्यवस्था बाह्य विषय की अपेक्षा से है । आकाश में दिखाई देने वाले केश आदि का ज्ञान बाह्य में अयथार्थ होने से प्रमाणाभास है, किन्तु स्वरूप में संवादक होने से प्रमाण है । इस विषय में अविनाभावनियम बतलाते हुए अकलङ्कदेव ने कहा है कि जो ज्ञान जितने विषय में अविसवादी होता है वह ज्ञान उतने अंश में प्रमाण माना जाता है । तदनुसार संशयज्ञान आदि सब प्रमाणाभास स्वरूप की अपेक्षा से अथवा द्रव्य की अपेक्षा से

प्रमाण हैं, क्योंकि उतने अश मे वे अविसवादी हैं। और जो ज्ञान जिस विषय मे अविसंवादी होता है वह उस विषय मे प्रमाण माना जाता है। जैसे रसज्ञान रस के विषय में प्रमाण है। सशयादिक ज्ञान भी स्वरूप में अथवा द्रव्यादिक के विषय मे अविसवादी होते हैं। अत· वे कथञ्चित् प्रमाण भी हैं। ग्रहण किये गये अर्थ में यदि व्यभिचार हो अर्थात् यदि सीप को चाँदी के रूप में जाना हो तो उसे **विसंवाद कहते** हैं। विसंवाद ही ज्ञान के अप्रामाण्य का कारण होता है। और अविसवाद प्रामाण्य का कारण होता है। सभी वादी इस बात को मानते है। अतः कोई भी ज्ञान सर्वथा प्रमाणाभास नही होता। इस प्रकार जो अन्यवादी जिस तैमिरिक आदि इन्द्रियज्ञान को प्रत्यक्षाभास कहते है वह भी **कथञ्चित् प्रत्यक्ष** है, ऐसा मानना चाहिये ॥२२॥

आगे कहते है कि **बौद्ध** जिस सविकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्षाभास मानते है वह भी प्रत्यक्ष है—

स्वसंवेद्यं विकल्पानां विशदार्थावभासनम् ।
संहृताशेषचिन्तायां सविकल्पावभासनात् ॥२३॥

अर्थ—विकल्पज्ञानो का स्पष्टरूप से परमार्थसत् अर्थ को जानना स्वसवेदन प्रत्यक्ष से ग्राह्य है। क्योकि समस्त चिन्ताओ से रहित अवस्था मे सविकल्पक ज्ञान का ही अनुभव होता है ॥२३॥

विशेषार्थ—'यह घट है', 'यह गौ है', 'यह शुक्ल है', इत्यादि निश्चयात्मकज्ञानो को **विकल्पकज्ञान** कहते है। **बौद्ध** इस प्रकार के ज्ञानो को मिथ्या मानता है। जैनों का कहना है कि उक्त विकल्पज्ञान परमार्थसत् अर्थ को स्पष्ट रूप से जानते हैं। यह बात स्वसवेदन प्रत्यक्ष से सिद्ध है। जिस समय सब चिन्ताएँ दूर रहती हैं, उस अवस्था मे भी चक्षु आदि जन्य ज्ञान मे जाति आदि के आकार से विशिष्ट पदार्थ का ही बोध होता है। अत विकल्पज्ञान को प्रत्यक्षाभास कहना अयुक्त है। और जिस निर्विकल्पक ज्ञान को **बौद्ध** प्रत्यक्ष कहते हैं उसका कभी भी स्पष्टरूप से प्रतिभास नही होता, इसलिये अस्पष्ट निर्विकल्पक ज्ञान ही **प्रत्यक्षाभास** है ॥२३॥

इस पर बौद्धों का कहना है कि जो वस्तु दिखाई देने के योग्य होते हुए भी जहाँ दिखाई नही देती ,वह वस्तु वहाँ नही होती, जैसे किसी स्थान विशेष में यदि घट दिखाई नही देता तो मानना होगा कि वहाँ घट नही है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष मे कल्पना वास्तविक

रूप में प्रतीत नही होती, इसलिये मानना होगा कि स्वसंवेदन आदि ज्ञानों में विकल्प नहीं है, क्योंकि उनका बोध नही होता । आगे इसका निराकरण करते हैं—

प्रतिसंविदितोत्पत्तिव्ययाः सत्योऽपि कल्पनाः ।
प्रत्यक्षेषु न [१]लक्ष्येरंस्तत्स्वलक्षणभेदवत् ॥२४॥

अर्थ—जैसे विकल्पों में स्वलक्षण भेद की प्रतीति नही होती, वैसे ही प्रत्यक्षो मे विद्यमान विकल्पों की भी प्रतीति नही होती, जबकि उनमे होने वाले उत्पाद-व्यय प्रत्येक प्राणी के द्वारा ज्ञात हैं ॥२४॥

विशेषार्थ—कल्पना का अर्थ विकल्प है और '**प्रत्यक्षेषु**' पदमे जो बहुवचन का प्रयोग किया है वह बौद्धाभिमत प्रत्यक्ष के चारों भेदो के ग्रहण के लिये किया है । **अकलङ्कदेव** का कहना है कि सभी प्रत्यक्षो में विकल्प विद्यमान है और वे विकल्प उत्पाद-विनाशशील हैं, इस बात को प्रत्येक प्राणी जानता है, क्योंकि सत्त्व का लक्षण ही उत्पादव्ययवत्व है, फिर भी उनका भान प्रत्यक्ष में नही होता । इसका कारण है जानने वाले की अशक्ति अथवा उसका उस ओर ध्यान न होना । इस विषय मे उदाहरण देते हैं—जैसे विकल्पो मे उत्पाद-व्यय के होते हुए भी उसका भेद क्षणभगपना और स्वरूपभेद प्रत्यक्ष से प्रतीत नही होता, इसी से उसकी सिद्धि के लिये '**सर्वं क्षणिकम्**' आदि अनुमान किया जाता है, वैसे ही प्रत्यक्षों में विकल्पो के होते हुए भी उनका प्रतिभास नहीं होता । यह उदाहरण बौद्धमत को लक्ष्य में रखकर दिया है । बौद्ध मानते हैं कि यद्यपि सब क्षणिक हैं, किन्तु क्षणिकत्व की प्रतीति प्रत्यक्ष से नही होती । उसके लिये लिये अनुमान की आवश्यकता होती है । जैनों का कहना है कि उसी तरह प्रत्यक्षों में विद्यमान विकल्पों की प्रतीति भी नहीं होती । तब यह प्रश्न होता है कि ऐसी स्थिति में उन विकल्पों का अस्तित्व कैसे सिद्ध होता है ? जब उनकी प्रतीति ही नही होती । तो इसका उत्तर यह है कि यदि विकल्प न होता तो कालान्तर में उस वस्तु का स्मरण नही होता । क्योंकि जिस विषय में विकल्पात्मक ज्ञान नहीं होता उसका स्मरण भी नही होता, जैसे रास्ते में चलते हुए तृणादि का स्पर्श होने पर भी कालान्तर में उसका स्मरण नही होता । अत- अविसंवाद होने से सविकल्पक ज्ञान ही प्रमाण है, यह सिद्ध होता है ॥२४॥

---

१ 'लक्ष्येरन् तत्स्वलक्षणभेदवत्' — न्यायकुमुदचन्द्र, भाग २, पृष्ठ ५२७।

इसी बात का आगे समर्थन करते हैं—

[1]अक्षधीस्मृतिसंज्ञाभिः चिन्तयाऽऽभिनिबोधिकैः ।
व्यवहाराविसंवादस्तदाभासस्ततोऽन्यथा ॥२५ ॥

अर्थ—प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान प्रमाणों के द्वारा व्यवहार में विसंवाद नहीं होता, अतः वे सब प्रमाण हैं। जो उनसे अन्यथा होते हैं वे प्रमाणाभास हैं ॥२५ ॥

विशेषार्थ— अक्ष मानें इन्द्रिय और उससे होने वाले ज्ञान को अक्षधी अर्थात् **सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष** कहते हैं। पूर्व में जानी हुई वस्तु के स्मरण को **स्मृति** कहते है। **संज्ञा** प्रत्यभिज्ञान को कहते हैं। **चिन्ता** का दूसरा नाम तर्क है और **अभिनिबोध** अनुमान को कहते हैं। इन प्रमाणों के द्वारा वस्तु को जानकर उसमें प्रवृत्ति करने वाले को किसी प्रकार का विसवाद नहीं होता, अत वे सब प्रमाण हैं और जहाँ विसवाद पाया जाता है अर्थात् कुछ को कुछ जान लिया जाता है वह **प्रमाणाभास** है। जैसे सशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप मिथ्याज्ञान **प्रत्यक्षाभास** हैं। पहले देखे हुए देवदत्त को यज्ञदत्त के रूप में स्मरण करना **स्मृत्याभास** है। देवदत्त को देखकर उसे यज्ञदत्त समझ लेना **प्रत्यभिज्ञानाभास** है। इसी तरह शेष प्रमाणों के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये ॥२५ ॥

आगे श्रुतज्ञान को प्रमाण सिद्ध करते हैं—

प्रमाणं श्रुतमर्थेषु सिद्धं द्वीपान्तरादिषु ।
अनाश्वासं न कुर्वीरन् क्वचित्तद् व्यभिचारतः ॥२६ ॥

अर्थ— द्वीपान्तर आदि पदार्थों के सम्बन्ध मे श्रुतज्ञान प्रमाण है। यह बात लोक में तथा अन्यमत के शास्त्रों में भी प्रसिद्ध है। किन्तु यदि कही इस विषय में व्यभिचार पाया जाता है तो श्रुतज्ञान मात्र में अविश्वास नही करना चाहिये ॥२६ ॥

विशेषार्थ—प्रामाणिक पुरुष के वचन आदि के निमित्त से मतिज्ञान पूर्वक जो अर्थज्ञान होता है उसे **श्रुतज्ञान** कहते हैं। वह श्रुतज्ञान भी अर्थ के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष आदि की तरह प्रमाण है। प्रामाणिक पुरुषों के वचनों को सुनकर जब हम उनके द्वारा कही गई बात की प्रतीति करते हैं तो वह सत्य प्रमाणित होती है। इसी पृथ्वी पर अनेक

---

१ 'अक्षधीः स्मृति . . .'— अकलङ्कग्रन्थत्रयम्, पृष्ठ १।

द्वीप हैं जिनको हम स्वयं जाकर प्रत्यक्ष नहीं देख सकते, किन्तु प्रामाणिक पुरुषों के वचनों से उनका अस्तित्व मानते हैं। इसी तरह पूर्वकाल में हुए तीर्थङ्करो और राम, रावण आदि विशिष्ट पुरुषों का अस्तित्व भी प्रामाणिक पुरुषो के द्वारा कहे वचनो से ही जानते हैं। रसायनशास्त्र को पढ़कर रसायन का सेवन करने में किसी को कोई विसवाद नहीं होता, अतः व्यवहार मे अविसंवादी होने से श्रुतज्ञान भी प्रमाण हैं। किन्तु लोक में झूँठे मनुष्य भी होते हैं। जैसे किसी मनुष्य ने बच्चों से कहा— 'बच्चों! अमुक नदी के किनारे लड्डुओं का ढेर लगा है और सब को मुफ्त बॉट रहे हैं।' यह सुनकर बच्चे गये तो वहाँ लड्डू कहाँ थे। ऐसे मनुष्यों के वचनों को असत्य देखकर सभी के वचनों को अप्रमाण मान लेना उचित नहीं है। यदि किसी ज्ञान को किसी एक स्थान में अप्रमाण देखकर सर्वत्र अप्रमाण माना जायेगा तब तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाण भी नही बन सकेंगे, क्योंकि कभी-कभी प्रत्यक्ष भी तो गलत होता है। और ऐसी स्थिति में समस्त लोकव्यवहार का ही लोप हो जायेगा ॥२६ ॥

इसी बात को पुन: कहते हैं—

प्रायः श्रुतेर्विसंवादात्प्रतिबन्ध्यमपश्यताम् ।
सर्वत्र चेदनाश्वासः सोऽक्षलिङ्गधियां समः ॥२७ ॥

अर्थ—बहुत करके श्रुतज्ञान में विसवाद होने से, शब्द और अर्थ में पाये जाने वाले सहज योग्यता रूप अविनाभाव सम्बन्ध को नहीं देख सकने वाले **बौद्ध** यदि सभी श्रुत में अविश्वास करते हैं तो वह अविश्वास प्रत्यक्ष और अनुमान में भी समान है, अर्थात् सभी प्रत्यक्षों और सभी अनुमानों को भी अप्रमाण मानना होगा ॥२७ ॥

विशेषार्थ—बौद्ध केवल दो ही प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। श्रुत को प्रमाण नही मानते। उनका कहना है कि शब्द और अर्थ का कोई सम्बन्ध नही है। शब्द के अभाव में भी अर्थ पाया जाता है और अर्थ के अभाव में भी शब्द पाया जाता है। शब्द का स्थान मुख है और अर्थ का स्थान भूमि वगैरह है। अतः शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध न होने से शब्द से बाह्य अर्थ की प्रतीति नही हो सकती। इसलिये शब्द प्रमाण नही है। किन्तु जैनों का कहना है कि शब्द और अर्थ में योग्यतारूप सम्बन्ध पाया जाता है। जैसे चक्षु और रूप में न तादात्म्य सम्बन्ध है और न तदुत्पत्ति सम्बन्ध है, फिर भी रूप के प्रकाशन की योग्यतारूप सम्बन्ध के होने से चक्षु रूप को प्रकाशित

करती है, वैसे ही योग्यता से शब्द अर्थ का वाचक होता है । शायद कहा जाये कि यदि योग्यता से शब्द अर्थ का वाचक है तो अर्थ भी शब्द का वाचक क्यों नहीं है ? किन्तु ऐसा कहना ठीक नही है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ की शक्ति प्रतिनियत होती है । जैसे ज्ञान और अर्थ में ज्ञाप्य-ज्ञापक शक्ति होती है, वैसे ही शब्द और अर्थ मे प्रतिपाद्य-प्रतिपादक शक्ति है । उसे ही **योग्यता** कहते है ।

बौद्ध—यदि योग्यता से शब्द अर्थ को कहता है तो जो मनुष्य जन्म से ही किसी ऐसे स्थान मे पाला गया है जहाँ उसने न कोई अर्थ देखा और न शब्द सुना, उस मनुष्य को भी शब्द सुनकर अर्थ की प्रतीति होनी चाहिये ।

जैन—योग्यता के साथ सकेत ग्रहण भी आवश्यक है । इस शब्द का यह वाच्य है और यह शब्द इस अर्थ का वाचक है । इस प्रकार के वाच्य-वाचक विनियोग को **सकेत** कहते है । जिस पुरुष के इस प्रकार का सकेत ग्रहण होता है, उसी को शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है, अन्य को नही ।

बौद्ध—सकेत तो पुरुष की इच्छा से किया जाता है । किन्तु पुरुष की इच्छा से वस्तु की व्यवस्था करना उचित नही माना जा सकता ।

जैन—सकेत स्वाभाविक योग्यता मूलक है । जैसे धूम और आग मे स्वाभाविक अविनाभाव सम्बन्ध है, किन्तु उसे समझने के लिये बार-बार देखने आदि की आवश्यकता होती है । वैसे ही शब्द और अर्थ मे स्वाभाविक वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध है, किन्तु उसको समझने के लिये सकेत ग्रहण आवश्यक है ।

इस प्रकार स्वाभाविक योग्यता और संकेत ग्रहण से शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है, अत श्रुतज्ञान भी प्रमाण है । किन्तु उस योग्यतारूप अविनाभाव सम्बन्ध को न देख सकने वाले **बौद्धमतानुयायी** यदि कही पर श्रुतज्ञान मे व्यभिचार देखकर सभी श्रुतज्ञान को मिथ्या कहेगे तब तो उन्हें प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण को भी मिथ्या मानना पड़ेगा, क्योंकि इन्द्रियज्ञान भी भ्रान्त और व्यभिचारी हो सकता है । इसीलिये अभ्रान्त और अव्यभिचारी विशेषणों से युक्त इन्द्रिय ज्ञान ही प्रमाण माना जाता है । उसी तरह जो अभ्रान्त और अव्यभिचारी श्रुतज्ञान है उसे प्रमाण मानने में क्यों असन्तोष है ? ॥२७ ॥

श्रुतज्ञान मात्र को अप्रमाण मानने में अन्य हानि बतलाते हैं—

आप्तोक्तेर्हेतुवादाच्च बहिरर्थाविनिश्चये।
सत्येतरव्यवस्था का साधनेतरता कुत: ॥२८॥

अर्थ—आप्त-पुरुष के वचनो से बाह्य अर्थ का निश्चय न कर सकने पर सत्य और असत्य की व्यवस्था कैसे बन सकती है तथा हेतुवाद से बाह्य अर्थ का निश्चय न कर सकने पर साधन और असाधनपना कैसे बन सकता है ? ॥२८॥

विशेषार्थ—जो पुरुष जिस विषय मे प्रामाणिक होता है वह उस विषय का आप्त होता है, ऐसे आप्त-पुरुष के वचनो से भी बाह्य अर्थ का निश्चय नही मानने पर बुद्ध के वचन सत्य हैं और कपिल आदि के वचन असत्य है, यह व्यवस्था कैसे बन सकती है ? और उसके न बन सकने पर सभी असत्य ठहरेगे। तब बुद्ध के वचनो से भी कोई लाभ नही माना जा सकेगा। इसी तरह हेतुवाद से अर्थात् साधन के प्रयोग से बाह्य अर्थ का निश्चय न मानने पर साधन और असाधन की व्यवस्था कैसे बन सकेगी ? किन्तु बौद्ध बुद्ध को आप्त मानते हैं, क्योंकि उसने चार आर्यसत्यों का उपदेश दिया है और कपिल को अनाप्त मानते हैं क्योकि उसने प्रधान आदि मिथ्या तत्त्वों का उपदेश दिया है, इसी तरह त्रिरूपहेतु के वचन को साध्य सिद्धि का अग और पक्षादि के वचन को साध्य की असिद्धि का अंग मानते है। और फिर भी कहते है कि वचन केवल वक्ता के अभिप्राय का सूचक है अर्थतत्त्व का नही, ऐसा कहने वाले को कैसे बुद्धिमान् माना जा सकता है ? क्योंकि एक ओर तो वचन को अर्थ का अप्रतिपादक कहना और दूसरी ओर बुद्ध के वचनों को मानना यह तो परस्पर विरोधी जैसी बात है ॥२८॥

इस पर **बौद्ध** का कहना है कि हम व्यवहारिजनों के अनुरोध से ही वक्ता के अभिप्राय के विषय में वचन को प्रमाण मानते हैं वास्तव में नही, क्योंकि पुरुषों के अभिप्राय विचित्र होते है, अत· वे अर्थ के विषय में व्यभिचारी देखे जाते है। इसका उत्तर देते हुए **अकलङ्कदेव** कहते हैं—

पुंसश्चित्राभिसन्धेश्चेद्वागर्थव्यभिचारिणी।
कार्यं दृष्टं विजातीयाच्छक्यं कारणभेदि किम् ॥२९॥

अर्थ—वक्ता पुरुष के अभिप्राय नाना रूप होने से यदि आप्त का वचन बाह्य अर्थ के विषय में विसंवादी है तो विजातीय कारण से भी कार्य की उत्पत्ति हो सकेगी और तब प्रतिनियत कारण का भेद करना क्या शक्य होगा ? अपितु नही होगा ॥२९ ॥

विशेषार्थ—वक्ता पुरुषों के अभिप्राय सत्य भी हो सकते हैं और असत्य भी हो सकते हैं, क्योंकि कहा है कि सरागी भी वीतरागी के समान चेष्टा करते पाये जाते है। इसलिये आप्त के वचन को अर्थ के विषय में प्रमाण नही माना जा सकता। **बौद्ध** के इस कथन को सदोष बतलाते हुए **अकलङ्कदेव** कहते हैं कि तब तो विजातीय कारण से भी कार्य की उत्पत्ति हो सकेगी और ऐसी अवस्था में कारण के व्यभिचारी होने से कार्य लिंग नही हो सकेगा और तब अनुमान का ही उच्छेद हो जायेगा। उदाहरण के लिये 'यह वृक्ष है, शिंशपा होने से ' इस अनुमान में भी कैसे विश्वास किया जा सकता है, क्योंकि जैसे कही आम की लता पाई जाती है, वैसे ही शिंशपा की भी लता उपलब्ध होने पर वृक्षत्व के अभाव में भी शिंशपात्व पाया जा सकता है। इसी तरह अग्नि काष्ठ से भी उत्पन्न होती है, मणि आदि से भी उत्पन्न होती है और वज्र आदि से भी उत्पन्न होती है। ये सभी अग्नियाँ अग्निस्वभाव हैं। तब यह नियम कि धूम अग्नि से ही उत्पन्न होता है अन्य से उत्पन्न नही होता, कौन विश्वास करेगा ? यदि कहोगे कि सुविवेचित कार्य-हेतु कारण का अव्यभिचारी होता है, अत. धूम अग्नि के बिना नही हो सकता। इसलिये धूम को देखकर अग्नि की सिद्धि की जाती है तो सुविवेचित वचन भी अर्थ का व्यभिचारी नही होता, अत. उसे भी प्रमाण मानना चाहिये।

शायद कहा जाये कि वचन का अर्थ केवल विवक्षारूप ही है, बाह्य नही है, किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नही है। विवक्षा का अर्थ है वक्ता की इच्छा। किन्तु बाह्य अर्थ के नियम के बिना वक्ता की इच्छा रूप नियम नही हो सकता। क्योंकि जो पुरुष रागद्वेष और मोह से आक्रान्त होते हैं, उनके वचन प्रमाण नही हो सकते। आप्त-पुरुष के वचन अवश्य प्रमाण होते हैं। अत श्रुत को भी प्रमाण मानना चाहिये ॥२९ ॥

॥ प्रथम प्रमाणप्रवेश के अन्तर्गत चतुर्थ आगमपरिच्छेद समाप्त ॥

॥प्रथम प्रमाणप्रवेश समाप्त ॥

द्वितीय नयप्रवेश : पञ्चम नयपरिच्छेद

प्रमाण और प्रमाणाभास की परीक्षा करने के पश्चात् अब नय और नयाभास की परीक्षा के लिये इस प्रकरण को प्रारम्भ करते हैं—

भेदाभेदात्मके ज्ञेये भेदाभेदाभिसन्धयः ।
ये तेऽपेक्षानपेक्षाभ्यां लक्ष्यन्ते नयदुर्नयाः ॥३० ॥

अर्थ— भेदाभेदात्मक ज्ञेय वस्तु में जो भेद और अभेद विषयक अभिप्राय हैं, वे अभिप्राय ही अपेक्षा और अनपेक्षा से नय और दुर्नय के रूप में निश्चित किये जाते हैं ॥३० ॥

विशेषार्थ— भेद का अर्थ है विशेष या पर्याय और अभेद का अर्थ है सामान्य या द्रव्य । अत प्रमाण की विषयभूत वस्तु भेदाभेदात्मक या सामान्य-विशेषात्मक या द्रव्य-पर्यायात्मक है अर्थात् वस्तु की आत्मा न तो केवल भेद या पर्याय या विशेषरूप है और न केवल अभेद या द्रव्य या सामान्यरूप है । किन्तु उभयरूप है । वही प्रमाण का विषय है । ऐसा **अकलङ्कदेव** ने इसी ग्रन्थ के **द्वितीय परिच्छेद** के प्रारम्भ में कहा है— **'तद् द्रव्यपर्यायात्मार्थो बहिरन्तश्च तत्त्वतः'** । उस भेदाभेदात्मक या सामान्यविशेषात्मक या द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु के विषय में ज्ञाता का अभिप्राय भी या तो भेद को लेकर होता है या अभेद को लेकर होता है । जैसे एक ज्ञाता वस्तु में स्थायित्व देखकर उसे नित्य कहता है, दूसरा ज्ञाता उसी वस्तु में होने वाले परिवर्तन को देखकर उसे अनित्य कहता है । ये विभिन्न अभिप्राय ही नय या दुर्नय अर्थात् **नयाभास** कहे जाते हैं । यदि उक्त दोनो ज्ञाता अपने-अपने एकाङ्गी अभिप्राय को ही वस्तु का पूर्णरूप मानते हैं तो उन दोनो के ही अभिप्राय **दुर्नय** हैं, क्योंकि वस्तु न केवल भेदात्मक ही और न केवल अभेदात्मक ही है, किन्तु भेदाभेदात्मक है । और यदि दोनों ही ज्ञाता अपने-अपने अभिप्राय को स्वीकार करते हुए भी दृष्टिभेद से दूसरे के अभिप्राय का निराकरण नही करते हैं तो उन दोनो के ही अभिप्रायों को **नय** कहा जाता है । इसी से कहा है कि निरपेक्षनय मिथ्या हैं और सापेक्ष नय सुनय हैं । अतः भेदमूलक और अभेदमूलक अभिप्राय यदि परस्पर सापेक्ष हैं तो **नय** हैं और यदि निरपेक्ष हैं तो **दुर्नय** हैं । नय के दो भेद है— **द्रव्यार्थिक** और **पर्यायार्थिक** । *द्रव्य या सामान्य अथवा अभेद या उत्सर्ग* या अन्वय को विषय करने वाले ज्ञान को **द्रव्यार्थिक नय** कहते हैं और पर्याय या विशेष

या भेद या व्यतिरेक या अपवाद को विषय करने वाले ज्ञान को **पर्यायार्थिक नय** कहते हैं ॥३० ॥

बौद्ध का कहना है कि समस्त पदार्थ देश, काल और आकार के भेद से अत्यन्त भिन्न ही हैं, अभेद या सत् सामान्य नाम की कोई वस्तु नही है । उसका निराकरण करते हुए **अकलङ्कदेव** कहते हैं—

जीवाजीवप्रभेदा यदन्तर्लीनाः तदस्ति सत् ।
एकं यथा स्वनिर्भासि ज्ञानं जीवः स्वपर्ययैः ॥३१ ॥

अर्थ— जीव, अजीव और उनके प्रभेद जिसके अन्तर्भूत हैं वह **सत्ता सामान्य** है । जैसे बौद्धमत मे अपने नीलादि आकारों को लिए हुए एक चित्रज्ञान है अथवा जैसे अन्य मतों में एक जीव अपनी पर्यायो को लिये हुए है, उसी तरह सत्ता-सामान्य भी एक है ॥३१ ॥

विशेषार्थ— ऊपर की कारिका में सत्ता सामान्य की सिद्धि के लिये दो उदाहरण दिये है, उनमें से एक उदाहरण बौद्धमत की दृष्टि से है और दूसरा उदाहरण दूसरे मतों की दृष्टि से है । बौद्धमत मे एक चित्रज्ञान माना गया है । वह ज्ञान एक है, किन्तु उसके विषयभूत नीलादि आकार अनेक हैं और वे ज्ञान स्वरूप ही हैं । तो जैसे वे नीलादि आकार ज्ञान के एकत्व मे बाधक नही है वैसे ही सत्ता सामान्य के भेद जीव, अजीव और उनके भी भेद त्रस-स्थावर आदि सत्ता सामान्य के एकत्व मे बाधक नही हैं तथा जैसे अन्य मतों में जीव और अजीव द्रव्य के अपने-अपने गुणपर्याय उस जीव और अजीव के एकत्व मे बाधक नही हैं वैसे ही सत्ता सामान्य के भेद जीव-अजीव आदि भी उसके एकत्व में बाधक नही हैं । अत· जैसे बौद्धमत मे एक चित्रज्ञान माना गया है या अन्य मतो में नाना गुण पर्याय वाला होते हुए भी एक जीव द्रव्य या एक अजीव द्रव्य माना गया है, वैसे ही एक सत्ता सामान्य भी मानना चाहिये । उसी के भेद जीव-अजीव आदि हैं ॥३१ ॥

आगे उस सत्ता सामान्य को ग्रहण करने वाले सग्रहनय का स्वरूप कहते है—

शुद्धं द्रव्यमभिप्रैति संग्रहस्तदभेदतः ।
भेदानां नासदात्मैकोऽप्यस्ति भेदो विरोधतः ॥३२ ॥

अर्थ— संग्रहनय शुद्ध द्रव्य को विषय करता है, क्योंकि सत्ता सामान्यरूप शुद्ध द्रव्य समस्त जीव-अजीव आदि में अभेदरूप है । और उसका कारण यह है कि सत्ता सामान्य के भेद जीवादि के मध्य में एक भी भेद असत्स्वभाव नहीं है, क्योंकि सत् और असत् में विरोध है ॥३२ ॥

विशेषार्थ— नय के दो भेद— द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक में से द्रव्यार्थिक नय के भेद संग्रह, नैगम और व्यवहारनय हैं। समस्त चेतन-अचेतन वस्तुएँ एक हैं, क्योंकि सभी सत्स्वरूप हैं, यह सग्रहनय है । पहले बतला आये हैं कि वस्तु न केवल भेदात्मक है और न केवल अभेदात्मक है, किन्तु भेदाभेदात्मक या सामान्य-विशेषात्मक अथवा द्रव्य-पर्यायात्मक है । किन्तु जब कोई दृष्टि वस्तुओं मे वर्तमान पारस्परिक भेद को छोड़कर केवल अभेद का अवलम्बन लेती है, तब उसे सब कुछ केवल सत्स्वरूप ही भासित होता है । इस तरह सत्ता रूप तत्त्व को अभेद रूप से ग्रहण करने वाली दृष्टि को **सग्रहनय** कहते हैं । ससार में जितने भी पदार्थ हैं, वे सब सत्स्वभाव है । उनमे से कोई भी पदार्थ असत्स्वभाव नही है तथा प्रत्यक्ष आदि प्रमाण भी सद्रूप को ग्रहण किये बिना विशेष रूप को ग्रहण नही करते हैं । अत प्रत्येक वस्तु कथञ्चित् सदात्मक अवश्य है । उसी सत्स्वरूप को संग्रहनय ग्रहण करता है और वस्तु का वही रूप शुद्ध द्रव्य कहा जाता है ॥३२ ॥

बौद्ध का कहना है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से तो भेद की ही सिद्धि होती है, अत अभेदग्राही सग्रहनय मिथ्या है । इसका उत्तर देते हुए **अकलङ्कदेव** कहते है—

प्रत्यक्षं बहिरन्तश्च भेदाज्ञानं सदात्मना ।
द्रव्यं स्वलक्षणं शंसेद्भेदात्सामान्यलक्षणात्[1] ॥३३ ॥

अर्थ— प्रत्यक्ष बाहर मे और अन्तरग में भेद का ग्रहण नही करता । वह तो सामान्य लक्षण वाले भेद के आश्रय से सत्स्वरूप से स्वलक्षण रूप द्रव्य को कहता है ॥३३ ॥

विशेषार्थ— **बौद्ध** स्थिर, स्थूल, स्तम्भ आदि के ज्ञान को झूठा मानता है । जैसे मरीचिका में जल का ज्ञान मिथ्या है, उसी तरह **अद्वैतवादी** एक ब्रह्म तत्त्व को ही यथार्थ मानता है और जीव-अजीव आदि के भेद को मिथ्या मानता है । जैन मानते हैं कि

१ ' लक्षणम् —अकलङ्कग्रन्थत्रयम्, पृष्ठ ३३ ।

समस्त चेतन-अचेतन वस्तु सत्सामान्य की अपेक्षा एक है ऐसा ग्रहण करने वाला संग्रहनय है । इस पर बौद्ध आदि को आपत्ति है, वह निरंश क्षण को ही सत् मानता है । जैन कहते हैं कि संसार में जो कुछ है वह सत् अवश्य है । भेदरूप वस्तु भी जो बौद्ध मानता है असत् नही है, क्योंकि जो है वह असत् कैसे हो सकता है ? सभी प्रमाण सत् को जाने बिना भेद को ग्रहण नही कर सकते । यदि द्रव्य आदि सत्स्वरूप न हों या सत् द्रव्यादि स्वभाव से रहित हों तो आपका कथन ठीक हो सकता है, किन्तु ऐसा नही है । सत्त्व का ग्रहण द्रव्यादि विशेष सापेक्ष होता है और द्रव्य का ग्रहण सत्त्वसापेक्ष होता है । अतः बौद्धों का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी सत्सामान्य के बिना केवल भेद को ग्रहण नही करता है । अत प्रत्यक्ष से भी द्रव्य की सिद्धि होती है, तब उसका ग्राहक संग्रहनय कैसे मिथ्या हो सकता है ? ॥३३ ॥

इस पर बौद्ध का कहना है कि क्षण-क्षण में परिवर्तनशील ज्ञानादि क्षण से भिन्न जीवादि द्रव्य ही नहीं हैं तब आप कैसे कहते हैं कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी द्रव्य का प्ररूपक है । इसका उत्तर देते हैं—

सदसत्स्वार्थनिर्भासैः सहक्रमविवर्तिभिः ।
दृश्यादृश्यैर्विभात्येकं भेदैः स्वयमभेदकैः ॥ ३४ ॥

अर्थ— जैसे बौद्धमत में एक ही ज्ञान सद् रूप ज्ञानगत आकारो और असद् रूप अर्थाकारों के साथ शोभित होता है, वैसे ही दृश्य और अदृश्य तथा सहवर्ती और क्रमवर्ती पर्यायो के साथ एक द्रव्य भी शोभित होता है, वे पर्यायें स्वय भेदरूप नही है ॥३४ ॥

विशेषार्थ— **अकलङ्कदेव** का कहना है कि बौद्धमत में जैसे एक ही क्षणिक ज्ञान में सत् और असत् प्रतिभास भेद माने गये हैं अर्थात् बौद्धमत के अनुसार एक ही ज्ञान में ज्ञानगत आकार तो सत् है और नीलादि आकार असत् हैं, क्योंकि ज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध बाह्य पदार्थों को असत् मानता है और ज्ञानगत आकारों को सत् मानता है तो जैसे बौद्धमत मे सत् और असत् प्रतिभास भेदो से युक्त एक ज्ञान माना गया है, वैसे ही जैनमत मे एक ही द्रव्य गुण और पर्यायों से युक्त माना गया है । उनमें से गुण तो सहवर्ती होते हैं, क्योकि वे द्रव्य की प्रत्येक अवस्था मे द्रव्य में पाये जाते हैं, कभी भी उससे विलग नही होते । और पर्याये प्रतिक्षण बदलती रहने से क्रमवर्ती होती हैं ।

पर्याय के भी दो प्रकार हैं— व्यञ्जनपर्याय और अर्थपर्याय । व्यञ्जनपर्याय स्थूल होने से दिखाई देती है, किन्तु अर्थपर्याय सूक्ष्म होने से अदृश्य होती है । ये गुण-पर्यायें स्वयं भेद रूप हैं, किन्तु गुण में गुण नहीं रहते और न पर्याय में पर्याय रहती है । यदि गुणपर्यायों में भी गुणपर्याय रहें तो वे भी द्रव्य कहलायेंगे, क्योंकि जो गुणपर्याय वाला हो वह द्रव्य है । अत. वे गुणपर्याये स्वयं अभेदरूप हैं । ऐसे गुणपर्यायों से युक्त द्रव्य भी वैसे ही परमार्थसत् है, जैसे ज्ञानाद्वैतवाद में प्रतिक्षण परिवर्तनशील ज्ञान क्षण परमार्थ सत् है ॥३४ ॥

आगे **अकलङ्कदेव** क्षणिकैकान्त में अर्थक्रिया का निषेध करते हैं—

लक्षणं क्षणिकैकान्ते नार्थस्याऽर्थक्रिया सति ।
कारणे कार्यभावश्चेत् कार्यकारणलक्षणम् ॥३५ ॥

अर्थ— अर्थ का लक्षण अर्थक्रिया है । वह अर्थक्रिया क्षणिकैकान्त में नही है, क्योंकि कारण के होने पर कार्य की उत्पत्ति होना कार्य-कारणभाव का लक्षण है । क्षणिकैकान्त मे ऐसा सम्भव नही है और यदि है तो क्षणिकवाद नही रहता ॥३५ ॥

विशेषार्थ— अर्थक्रिया का मतलब है अपना काम करना । जो अपना काम करता है, उसे ही **अर्थ** कहते हैं । जो कुछ नही करता है वह अर्थ ही नही है । क्षणिकैकान्त में यह अर्थक्रिया नही बनती । अर्थक्रिया तभी बनती है जब कार्यकारणभाव सम्बन्ध बने । कारण के होने पर होता है और कारण के नही होने पर नही होता, यह कार्य का लक्षण है और कार्य को उत्पन्न करना कारण का लक्षण है । किन्तु क्षणिकैकान्त में कारण के अभाव में ही कार्य की उत्पत्ति मानी गई है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु प्रथम क्षण में उत्पन्न होती है और दूसरे क्षण में नष्ट हो जाती है । इसी का नाम **क्षणभगवाद** या **क्षणिकैकान्तवाद** है । ऐसी स्थिति में जिस क्षण में वस्तु उत्पन्न होती है, उस क्षण में तो वह कार्य कर नही सकती, क्योंकि अभी वह उत्पन्न ही नही हुई है और दूसरे क्षण में वह नष्ट हो जाती है तो कारण के होने पर कार्य का होना और कारण के अभाव में कार्य का अभाव, यह जो कार्यकारण का लक्षण है वह क्षणिकवाद मे नही बनता, क्योंकि कारण के नष्ट हो जाने पर ही कार्य होता है । यदि कहोगे कि कारण अपने उत्पत्ति काल की तरह कार्य की उत्पत्ति के समय भी विद्यमान रहता है और इस तरह कार्यकारण का लक्षण घटित हो जाता है तो भी क्षणभङ्गवाद नही बनता है, क्योंकि कारण अपने उत्पत्ति

काल की तरह कार्य के उत्पत्ति के समय भी विद्यमान रहने से क्षणवर्ती नही, अपितु दो क्षणवर्ती हो जाता है ॥३५ ॥

इस पर **बौद्ध** का कहना है कि 'जिसके होने पर जो होता है, वह उसका कार्य है' इससे यही सूचित होता है कि कारण के होने पर कार्य होता है । हमारे मत में भी कारण को अपने अस्तित्वक्षण में रहने पर उत्तर क्षण में कार्य की उत्पत्ति होने में कोई विरोध नही है । जैसे गौओं के दुहे जाते समय गया और दुहे जाने पर आ गया । यहाँ गोदोहन काल और गमन काल एक नही है । यदि कार्य-कारण को समकालीन माना जायेगा तो उनमें कार्य-कारणभाव का विरोध उपस्थित होगा । जैसे गौ के दोनों सींग एक साथ रहते हैं, किन्तु उनमें कार्यकारणभाव नही है । **बौद्धों** के इस कथन का प्रतिवाद करते हैं—

कार्योत्पत्तिर्विरुद्धा चेत् स्वयं कारणसत्तया ।
युज्येत क्षणिकेऽर्थेऽर्थक्रियासम्भवसाधनम्[१] ॥३६ ॥

अर्थ— यदि कार्य की उत्पत्ति स्वय कारण की सत्ता के विरुद्ध है तो क्षणिक अर्थ में अर्थक्रिया को सम्भव सिद्ध करना उचित है ॥३६ ॥

विशेषार्थ— **बौद्ध** मत के अनुसार कारण का अभाव होने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती है, क्योकि वह क्षणिक है । इस पर से **जैनों** का कहना है कि क्या कारण के सद्भाव के साथ कार्य की उत्पत्ति का विरोध है कि कार्य को कारण के अभाव की प्रतीक्षा करनी पड़ती है और जब कारण का अभाव हो जाता है तब कार्य उत्पन्न हो जाता है । यदि ऐसा हो तो **बौद्ध** का क्षणिक पदार्थ मे अर्थक्रिया मानना उचित है, किन्तु कार्य की उत्पत्ति कारण के अभाव की प्रतीक्षा नही करती अपितु कारण के सद्भाव में ही कार्य होता है । आशय यह है कि क्षणिकवादी **बौद्ध** नित्यपदार्थ मे अर्थक्रिया का निषेध यह कहकर करता है कि नित्यपदार्थ तो सर्वदा वर्तमान रहता है, अत उससे कार्य की उत्पत्ति नही हो सकती, इसी को दृष्टि में रखकर **जैन** दूषण देते हैं कि क्या कारण का अभाव हुए बिना कार्य उत्पन्न नही होता ? यदि कारण का अभाव होने पर ही कार्य उत्पन्न होता है तो वह कार्य निष्कारण (जिसका कोई कारण नही) कहा जायेगा और ऐसी स्थिति मे कार्य किसी की अपेक्षा नही करेगा । उसमें देश, काल, स्वभाव का कोई नियम नही

---

१ 'अर्थक्रियाऽसम्भवसाधनम्' — न्यायकुमुदचन्द्र, भाग २, पृष्ठ ६१६ ।

रहेगा, क्योंकि वह तो अकारण उत्पन्न होता है । तब उसके सर्वत्र सर्वदा और सर्वथा अस्तित्व का प्रसग आयेगा । क्योंकि जिसका कोई कारण नहीं उसके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का कोई नियम नहीं बन सकता है । ऐसी स्थिति में बौद्धमत के अनुसार भाव और अभाव में परस्पर में कार्यकारण भाव कहलायेगा, क्योंकि कार्य अपनी उत्पत्ति मे जिसकी अपेक्षा करता है, उसे उसका कारण कहते हैं । बौद्धमत के अनुसार कार्य अपनी उत्पत्ति मे कारण के अभाव की अपेक्षा करता है, क्योंकि कारण का अभाव होने पर ही कार्य होता है । अतः भाव और अभाव मे कार्यकारण भावपना प्राप्त होता है, किन्तु अभाव तो तुच्छ रूप है, वह किसी का कारण हो नही सकता है ॥३६ ॥

इस पर **बौद्ध** का कहना है कि असत् कारण से ही कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है । गाढ़ी नीद से जागने पर जो ज्ञान होता है, उसका कारण सोने से पूर्व का ज्ञान होता है । भाविमरण उससे पूर्व होने वाले अपशकुनों का कारण होता है । इसका उत्तर देते है—

यथैकं भिन्नदेशार्थान् कुर्याद् व्याप्नोति वा सकृत् ।
तथैकं भिन्नकालार्थान् कुर्याद् व्याप्नोति वा क्रमात् ॥३७ ॥

अर्थ—जैसे एक निरश क्षणिक वस्तु भिन्न देशवर्ती पदार्थों को एक साथ करती है अथवा एक ज्ञान अनेक नीलादि आकारो में एक साथ व्यापता है, वैसे ही एक नित्य द्रव्य भिन्नकालवर्ती पदार्थों को क्रम से करता है तथा अपनी पर्यायों में व्यापता है ॥३७ ॥

विशेषार्थ—**बौद्ध** नित्यत्ववाद मे जिन आधारों से दूषण देते हैं और क्षणिकवाद का समर्थन करते हैं, उन्ही आधारों को लेकर **अकलङ्कदेव** ने क्षणिकवाद की तरह नित्यत्ववाद मे भी दोषों का परिमार्जन किया है । **बौद्ध** कहते हैं कि क्षणिक स्वलक्षण नाना देशों और नाना दिशाओं मे होने वाले कार्यों को किसी सकर और व्यतिकर दोषों के बिना करता है, क्योंकि उनको करना ही उसका एक स्वभाव है । सामग्री के भेद से कार्य में भेद होने पर भी क्षणिक स्वलक्षण के स्वभाव मे कोई भेद नही होता है । जैनों का कहना है कि उसी तरह एक नित्यपदार्थ भी जो कार्य जब उत्पन्न होना चाहता है उस कार्य को उसी समय उत्पन्न करता है, क्योंकि उसको उत्पन्न करना ही उसका एक मात्र

स्वभाव है । शायद **बौद्ध** कहें कि क्रम से होने वाले अनेक कार्यों को करने पर नित्यपदार्थ एक कैसे रह सकता है, उसके उतने ही भेद क्यों नही होंगे ? इसके उत्तर में जैनों का कहना है कि वह नित्य पदार्थ सर्वदा कार्यों के काल के अनुसार ही जब जो कार्य उत्पन्न होने के योग्य होता है उसे उत्पन्न कर देता है । उसकी कार्य करने की सामर्थ्य एक ही है, उसमें भेद नही है । तथा जैसे चित्राद्वैतवादी **बौद्ध** का चित्रज्ञान अपने नीलादि आकारों में एक साथ व्यापता है, उसी तरह एक जीवादि द्रव्य अपनी विभिन्न पर्यायों मे व्याप्त होता है । वे पर्याये उस द्रव्य से सर्वथा भिन्न नही हैं ॥३७ ॥

इस तरह द्रव्य की सिद्धि होने से उसका ग्राहक संग्रहनय भी सिद्ध होता है ।

आगे सग्रह और सग्रहाभासनय का स्वरूप कहते हैं—

संग्रहः सर्वभेदैक्यमभिप्रैति सदात्मना ।
ब्रह्मवादस्तदाभासः स्वार्थभेदनिराकृतेः ॥३८ ॥

अर्थ— सग्रहनय सत्स्वरूप से समस्त भेदों के ऐक्य को स्वीकार करता है । ब्रह्माद्वैतवाद सग्रहाभास है, क्योंकि वह सन्मात्र तत्त्व के जीवादि भेदों का निराकरण करता है ॥३८ ॥

विशेषार्थ—जो अपनी जाति का विरोध न करके भेदो में एकत्व लाकर उन सबको एक रूप से ग्रहण करता है, उसे **संग्रहनय** कहते हैं । जैसे 'सत्' कहने से जो सत् हैं— द्रव्य-पर्याय और उनके भेद-प्रभेद, उन सबका ग्रहण करना **संग्रहनय** है । या 'द्रव्य' कहने से जीव-अजीव और उनके भेद-प्रभेदों को एक रूप से ग्रहण करना **संग्रहनय** है । **अद्वैतवाद** भी सब पदार्थों को एकरूप से ग्रहण करता है, किन्तु वह उसके भेदों को काल्पनिक (मायाकृत) मानकर उनका निषेध करता है, अत वह सग्रहाभास है-यथार्थ सग्रहनय नही है । सग्रहनय एकरूप से संगृहीत वस्तुओ में पाये जाने वाले भेदों की ओर से उदासीन होता है, उनका निषेध नही करता । नय एक दृष्टि है, वह दृष्टि तभी तक यथार्थ है जब तक वह अन्य दृष्टियों की ओर से उदासीन है । यदि वह केवल अपने को ही यथार्थ और अन्य दृष्टियो को मिथ्या कहता है तो वह स्वयं मिथ्या है ॥३८ ॥

आगे नैगम और नैगमाभास का स्वरूप कहते हैं—

[1]अन्योन्यगुणभूतैकभेदाभेदप्ररूपणात् ।
नैगमोऽर्थान्तरत्वोक्तौ नैगमाभास इष्यते ॥३९ ॥

अर्थ—जो भेद और अभेद में से परस्पर एक को गौण और एक को प्रधान करके कहता है वह **नैगमनय** है और जो सर्वथा भेद को कहता है वह **नैगमाभास** है ॥३९ ॥

विशेषार्थ—'**नैकं गमः नैगमः**' इस नैगम शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार जो केवल एक को ही प्राप्त नही होता, अर्थात् अनेक को प्राप्त होता है वह **नैगमनय** है। अर्थात् गुण और गुणी, अवयव और अवयवी, क्रिया और कारक तथा जाति और जातिवान् मे से जो कभी भेद को गौण करके अभेद को कहता है, अथवा अभेद को गौण करके भेद को कहता है वह **नैगमनय है**। इसी से **धवला टीका** में इसे सग्रहासग्रहरूप द्रव्यार्थिकनय कहा है।[2] क्योंकि जब वह अभेद को मुख्य रूप से कहता है तो वह सग्रहरूप होता है और जब भेद को मुख्य करके कहता है तो वह व्यवहार रूप होता है। किन्तु नैगम का अन्तर्भाव न तो सग्रहनय मे होता है और न व्यवहारनय में होता है। संग्रहनय केवल अभेदरूप से वस्तु को ग्रहण करता है, व्यवहारनय केवल भेदरूप से वस्तु को ग्रहण करता है, किन्तु नैगमनय कभी भेदरूप से तो कभी अभेदरूप से वस्तु को ग्रहण करता है। अतः वह इन दोनों नयों से जुदा है। जो नय गुण-गुणी आदि में अत्यन्त भेद ही मानता है वह **नैगमाभास** है। जैसा ब्रह्माद्वैत सग्रहाभास है, वैसे ही यौगदर्शन नैगमाभास है, क्योंकि **नैयायिक-वैशेषिक** गुण-गुणी, अवयव-अवयवी आदि मे अत्यन्त भेद ही मानते है, किन्तु वे सर्वथा भिन्न नही हैं, किसी अपेक्षा से अभिन्न भी है अर्थात् गुण की सत्ता गुणी से भिन्न नही है और गुणी की सत्ता गुणों से भिन्न नही है। इसी तरह अवयव-अवयवी आदि के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये। यदि इनको सर्वथा भिन्न माना जायेगा तो एक अवयवी अपने अनेक अवयवों में सर्वात्मना रहता है तो वह एक नही हो सकता, किन्तु जितने उसके

---

१ यद्वा नैकं गमो योऽत्र स सतां नैगमो मतः ।
धर्मयोर्धर्मिणो वापि विवक्षा धर्मधर्मिणो· ॥ २१ ॥
— तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक,१/३३ ।

यदस्ति न तद् द्वयमतिलङ्घ्य वर्तते इति नैकगमो नैगमः, सग्रहासंग्रहस्वरूपद्रव्यार्थिको नैगम इति यावत् — षट्खण्डागम, धवला टीका, पु १, पृष्ठ ८४ ।

अवयव हैं उतने ही अवयवी भी मानना पड़ेंगे, क्योंकि प्रत्येक अवयव में पूरा अवयवी रहता है। यदि एक अवयवी अनेक अवयवों में एक देश से रहता है तो उस अवयवी के अनेक देश मानने होंगे। अतः पुन· यह प्रश्न होगा कि अवयवी उन अपने अनेक देशों में से प्रत्येक में सर्वात्मना रहता है या एक देश से रहता है। और इससे अनवस्था दोष का अवतार होता है, तब कैसे एक अवयवी अनेक अवयवों में रह सकता है ? अत अवयव-अवयवी आदि में सर्वथा भेद मानना उचित नही है ॥३९ ॥

आगे इसी तरह सत्ता और सत्तावान् मे भेदैकान्त का निराकरण करते हैं—

स्वतोऽर्थाः सन्तु सत्तावत् सत्तया किं सदात्मनाम् ।
असदात्मसु नैषा स्यात् सर्वथाऽतिप्रसङ्गतः ॥४० ॥

अर्थ—जैसे सत्ता स्वय सत् है वैसे ही पदार्थ भी स्वय सत् होगे। क्योंकि जो सत्स्वरूप है उनमें सत्ता से क्या प्रयोजन हो सकता है ? यदि पदार्थ असत्स्वरूप है तो उनमे सत्ता नही रह सकती, सर्वथा असत् को भी सत्ता के सम्बन्ध से सत् मानने से अतिप्रसङ्ग दोष आता है ॥४० ॥

विशेषार्थ—**यौग** अर्थात् **नैयायिक-वैशेषिक** दर्शन सम्बन्धवादी दर्शन है। वह मानता है कि द्रव्य, गुण, कर्म स्वय सत् नही हैं, सत्ता के साथ उनका समवाय सम्बन्ध होने से सत् है। किन्तु वे सामान्य, विशेष और समवाय नाम के पदार्थों को स्वय सत् मानते हैं। इस पर जैनों का कहना है कि जैसे सामान्य, विशेष और समवाय नाम के पदार्थ स्वय सत् है, सत्ता के सम्बन्ध से सत् नही है, वैसे ही द्रव्य, गुण और कर्म नाम के पदार्थों को भी स्वय सत् क्यों नही मानते। उनमे सत्ता का समवाय मानने से क्या लाभ है ? यदि उनको सत्ता के सम्बन्ध से ही सत् मानते हो तो दो प्रश्न पैदा होते है, जो स्वय सत् है उनमें सत्ता का सम्बन्ध होता है या जो स्वय असत् है उनमें सत्ता का सम्बन्ध होता है ? जो स्वय सत् हैं, उनमें तो सत्ता का सम्बन्ध मानना व्यर्थ है। अत· जैसे सत्ता स्वय सत् है, उसमें सत्ता का सम्बन्ध आपने नही माना है, वैसे ही द्रव्य, गुण, कर्म भी स्वय सत् हैं, अत उनमें सत्ता का सम्बन्ध मानना व्यर्थ है। यदि कहोगे कि वे स्वय असत् हैं, सत्ता के सम्बन्ध से ही सत् होते हैं तो यदि असत् पदार्थ भी सत्ता के सम्बन्ध से सत् हो सकते है तो खरविषाण (गधे का सीग) जैसे असत् पदार्थ भी सत्ता के सम्बन्ध से सत् हो जायेंगे। तब तो ससार में कुछ भी असत् नही रहेगा। अत सत्ता ससावान् से पृथक् नही है,। किन्तु उनमें कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध है ॥४० ॥

इस पर ब्रह्माद्वैतवादी और यौगों का कहना है कि वस्तु व्यवस्था प्रमाणाश्रित है, अत· ब्रह्मवाद और भेदवाद भी प्रमाणसिद्ध हैं, तब क्यों उनके ग्राहक नयों को आप नयाभास—संग्रहाभास और नैगमाभास कहते है ? आचार्य इसका उत्तर देते हैं—

प्रामाण्यं व्यवहाराद्धि स न स्यात् तत्त्वतस्तयोः।
मिथ्यैकान्ते विशेषो वा कः स्वपक्षविपक्षयोः ॥४१ ॥

अर्थ—व्यवहार से ही प्रामाण्य की व्यवस्था होती है। संग्रहाभास या निरपेक्ष अभेदैकान्त में और नैगमाभास या सर्वथा भेदैकान्त मे परमार्थ से व्यवहार सम्भव नही है। यदि कहोगे कि उनमें वास्तविक व्यवहार न रहे, अवास्तविक व्यवहार तो रहेगा, तो कहते हैं—यदि व्यवहार मिथ्या है तो व्यवहाराश्रित प्रमाण भी मिथ्या ठहरेगा। और उस मिथ्यैकान्त में स्वपक्ष और विपक्ष में क्या भेद रहेगा ? अर्थात् जब प्रमाण मिथ्या है तो या तो स्वपक्ष की तरह विपक्ष भी सिद्ध मानना होगा या विपक्ष की तरह स्वपक्ष को भी असिद्ध मानना होगा ॥४१ ॥

विशेषार्थ—ब्रह्माद्वैत या क्षणिक निरश परमाणु रूप तत्त्व की व्यवस्था प्रमाण के बिना नही हो सकती, अत· प्रमाण की व्यवस्था तो करनी ही होगी। प्रमाण के प्रामाण्य की व्यवस्था का आधार व्यवहार है और व्यवहार सग्रहनय की दृष्टि से मिथ्या है, क्योकि व्यवहार भेद को लेकर प्रवृत्त होता है और सग्रहनय अभेदग्राही है। ऐसी स्थिति मे दोनो ही मिथ्या ठहरते हैं, क्योंकि सग्रहनय की दृष्टि से व्यवहार मिथ्या है और व्यवहाराधीन प्रमाण व्यवस्था है, अत प्रमाण के अभाव में सग्रह भी मिथ्या ठहरता है। इस तरह जब दोनो ही मिथ्या हुए तो संग्रह की व्यवस्था करना अनुचित है। ऐसी स्थिति में सग्रह और व्यवहार दोनों की ही उपलब्धि सत्य होने से सग्रह व्यवहार का अतिक्रमण कैसे कर सकता है ? अतः संग्रहाभास में प्रमाण का अभाव है। इसी तरह नैगमाभास में भी प्रमाण का अभाव है। नैयायिक के मत से अवयवी अपने अवयवो मे रहता है। लोक में कहा जाता है कि— 'गाय के सीग हैं, वृक्ष में शाखा है'। नैयायिक के मत से कहा जायेगा कि— 'सीग में गौ है, शाखा में वृक्ष है'। तथा यदि आत्मा स्वय 'अज्ञ' है तो वह ज्ञान के समवाय से कैसे 'ज्ञ' हो सकता है। यदि ज्ञान के समवाय से 'अज्ञ' भी 'ज्ञ' हो सकता है तो समवाय भी 'ज्ञ' हो जायेगा ॥४१ ॥

आगे व्यवहारनय का स्वरूप कहते हैं—

व्यवहाराविसंवादी नयः स्याद् दुर्नयोऽन्यथा ।
बहिरर्थोऽस्ति विज्ञप्तिमात्रं शून्यमितीदृशः ॥४२ ॥

अर्थ—व्यवहार का अविसवादी नय व्यवहारनय है, जैसे बाह्य अर्थ है । और व्यवहार का विसवादी नय दुर्नय या व्यवहाराभास है, जैसे विज्ञप्तिमात्र ही तत्त्व है या शून्यरूप ही तत्त्व है ॥४२ ॥

विशेषार्थ—कार्यकारणभाव आदि की व्यवस्था का नाम **व्यवहार** है और प्रमाणान्तर से बाधा न आना, पूर्वापर विरोध का न होना **अविसंवाद** है । जैसे बाह्य अर्थ है, प्रमाण है, साध्य-साधन भाव है— इत्यादि मानने वाला व्यवहारनय है । अर्थ के तीन रूप हैं— वस्तुरूप, शब्दरूप और ज्ञानरूप । उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से जो युक्त हो वह सत् है, गुणपर्याय वाला द्रव्य है, जीव चैतन्य स्वरूप है, ये वस्तुरूप अर्थ है, सत् द्रव्य आदि शब्द शब्दरूप अर्थ है और उनका ज्ञान ज्ञानरूप अर्थ हैं । व्यवहारनय इन तीनों को ही स्वीकार करता है । जो इन्हे स्वीकार नही करता वह व्यवहाराभास है । जैसे बौद्धो का एक भेद स्वलक्षण रूप बाह्य अर्थ को स्वीकारता है तो दूसरा भेद योगाचार उसका खण्डन करके ज्ञानाद्वैत को मानता है । तीसरा माध्यमिक उसका भी निराकरण करके शून्यवाद को मानता है । अत ये सब व्यवहाराभासी है ॥४२ ॥

आगे ऋजुसूत्रनय का स्वरूप कहते हैं—

ऋजुसूत्रस्य पर्यायः प्रधानं चित्रसंविदः ।
चेतनाणुसमूहत्वात् स्याद्भेदानुपलक्षणम् ॥४३ ॥

अर्थ—ऋजुसूत्रनय का प्रधान विषय वर्तमान पर्याय है । **बौद्ध** कल्पित चित्रज्ञान तो चेतन अणुओं का— ज्ञान के अविभागी प्रतिच्छेदों का समूहरूप होने से ऋजुसूत्रनय का विषय नही है । चित्रज्ञान नील-पीत आदि नाना रूपों का समुदाय है, किन्तु उनमे विद्यमान भेद का दर्शन नही होता है ॥४३ ॥

विशेषार्थ—संग्रहनय सत्सामान्य की अपेक्षा सब को एक रूप से ग्रहण करता है, व्यरहारनय उसी के भेद-प्रभेद करता है । यथा— सत् द्रव्य और पर्यायरूप है, द्रव्य जीवादि भेद रूप है, पर्याय ज्ञानादिरूप- रागादिरूप है, इस तरह जब तक भेद शक्य हैं तब तक व्यवहारनय का विषय है । व्यवहारनय के अन्तिम भेद रूप एक वस्तु की भूत, भविष्यद् और वर्तमान पर्यायों मे से जो केवल वर्तमान पर्याय को ही ग्रहण करता

है वह ऋजुसूत्रनय है। अतीतपर्याय नष्ट हो जाती है और भाविपर्याय भी वर्तमान नही होती, अतः व्यवहार में अनुपयोगी होने से ऋजुसूत्रनय उन्हें स्वीकार नही करता है। शायद बौद्ध कहे कि चित्रज्ञान तो व्यवहारोपयोगी है, अतः उसे ऋजुसूत्रनय का विषय मानने में क्या आपत्ति है ? तो कहते हैं कि नील, पीत आदि नानारूपों के ज्ञान को चित्रज्ञान कहते हैं, वह चित्रज्ञान ज्ञान के अविभागी प्रतिच्छेदों के समुदाय रूप होने से ऋजुसूत्रनय का विषय नहीं हो सकता है। क्योंकि समुदाय प्रतिनियत व्यवहार में उपयोगी नही होता है। शायद कहा जाये कि उसमें भेद की प्रतीति क्यों नही होती ? तो उसका उत्तर है कि जैसे लोहे के गोले में पर्यायभेद होने पर भी उसकी प्रतीति नही होती, उसी तरह चित्रज्ञान में अशभेद रहते हुए भी दृष्टिगोचर नही होते। तथा कथञ्चित् द्रव्य की अविनाभावी पर्याय ऋजुसूत्रनय का विषय है। सर्वथा द्रव्यनिरपेक्ष पर्याय तो अवस्तु है, अतः निरन्वय क्षणिकैकान्त ऋजुसूत्राभास है ॥७३ ॥

आगे शब्दनय, समभिरूढनय और एवम्भूतनयो का स्वरूप कहते हैं—

कालकारकलिङ्गानां भेदाच्छब्दोऽर्थभेदकृत् ।
अभिरुढस्तु पर्यायैरित्थम्भूतः क्रियाश्रयः ॥७४॥

अर्थ—काल, कारक, लिङ्ग, सख्या, साधन, उपग्रह आदि के भेद से जो अर्थ को भेदरूप ग्रहण करता है वह **शब्दनय** है। जो पर्यायशब्द के भेद से अर्थ को भेद रूप ग्रहण करता है वह **समभिरूढनय** है और जो विवक्षित क्रिया की प्रधानता से अर्थ को भेद रूप ग्रहण करता है वह **एवम्भूतनय** है ॥७४ ॥

विशेषार्थ—जो कालादि के भेद से अर्थ को भेदरूप ग्रहण करता है वह **शब्दनय** है। हुआ, होता है, होगा— ये काल भेद के उदाहरण हैं। अतीतकाल सम्बन्धी अनुभव आदि पर्यायरूप से 'हुए' कहे जाते हैं, वर्तमानकाल सम्बन्धी स्मरणादि पर्याय रूप से 'होते हैं', कहे ाते हैं। इन दोनों में कार्य-कारणभाव है। अतीतकाल में अनुभव होने पर ही वर्तमान में उसका स्मरण होता है, परिणामी उपादान कारण के बिना ऐसा नही हो सकता। 'होगा' का अर्थ है आगामी पर्याय स्वभाव से उत्पन्न होगा। यहाँ भी चूँकि वर्तमान में 'होता है' इसीलिये भविष्य में होगा। इस तरह शब्दनय कालभेद से जीव को भेदरूप ग्रहण करता है। क्योंकि सत्ता में भेद के बिना 'हुआ होगा' आदि नही कहा जा सकता है। कारक भेद से भी शब्दनय अर्थ को भेदरूप ग्रहण करता है। जैसे

देवदत्त देखता है, देवदत्त के द्वारा देखा जाता है, देवदत्त को बचाता है, देवदत्त को धन देता है, देवदत्त से धन पाता है, देवदत्त में पौरुष है। यदि देवदत्त में धर्मभेद न हों तो कर्त्ता आदि कारकों का प्रयोग सम्भव नहीं हो सकता। इसी तरह 'दारा' 'कलत्रम्' और 'भार्या'— ये तीनों शब्द यद्यपि स्त्री के वाचक है, किन्तु 'दारा' शब्द पुल्लिग है, 'कलत्रम्' नपुसकलिंग है और भार्या स्त्रीलिंग है। अत. शब्दनय स्त्री को भेदरूप ग्रहण करता है। यदि उसमें पुल्लिगत्व आदि धर्म भेद के बिना भी इन शब्दों का प्रयोग सम्भव हो तो सर्वत्र नियामकता के अभाव का प्रसंग आयेगा। सख्याभेद से भी शब्दनय अर्थ को भेदरूप ग्रहण करता है। जैसे 'जलम्' और 'आप.'—ये दोनों शब्द जल के वाचक है, किन्तु 'जलम्' एकवचन मे है और 'आप' बहुवचनान्त है। अत शब्दनय जल को भेदरूप ग्रहण करता है। एकत्व आदि धर्मभेद के बिना वचन भेद सम्भव नही है। साधन के भेद से भी शब्दनय अर्थ को भेदरूप ग्रहण करता है। यथा देवदत्त पकाता है, तुम पकाते हो, मै पकाता हूँ—यहाँ प्रथम पुरुष आदि का प्रयोग अर्थभेद के बिना सम्भव नही है। उपसर्ग के भेद से भी शब्दनय अर्थ को भेदरूप ग्रहण करता है। जैसे सस्कृत '**स्था**' धातु का रूप '**तिष्ठति**' बनता है, जो परस्मैपद है। इससे पहले उपसर्ग लगने पर वह आत्मनेपद हो जाता है, जैसे '**अवतिष्ठते**'। अत उपसर्ग भेद भी अर्थ का भेदक होता है।

पर्यायशब्द से अर्थभेद मानने वाला **समभिरूढ़नय** है। जैसे 'इन्द्र','शक्र' और 'पुरन्दर'— ये तीनो पर्यायशब्द स्वर्ग के स्वामी के वाचक हैं। यद्यपि तीनों शब्द पुल्लिङ्ग हैं, इनमें लिङ्गभेद नही है, फिर भी पर्यायभेद है। आनन्द करने से इन्द्र सज्ञा है, शक्तिशाली होने से शक्र सज्ञा है और पुरों—नगरो का दारण करने से पुरन्दर सज्ञा है। अत. यह नय इन्द्र को तीन भेद रूप ग्रहण करता है। यदि इन्द्र मे इन्दन आदि धर्म भेद न हो तो इन्द्र आदि शब्दों का प्रयोग शक्य नही हो सकता है। यदि वैसा किया जायेगा तो अतिप्रसगदोष उपस्थित होगा और चाहे जिस किसी को भी इन्द्र आदि नामों से कहा जा सकेगा।

विवक्षित क्रिया की प्रधानता से अर्थभेद मानने वाला **एवम्भूतनय** है। जैसे जो आनन्द करता है उसे इन्द्र कहते हैं तो स्वर्ग का स्वामी जिस समय आनन्द करता है, उसी समय वह इन्द्र है। अभिषेक या पूजन करते समय उसे इन्द्र नाम से नही कह सकते है। यदि अन्य समय में भी उसे इन्द्र कहा जायेगा तो क्रिया परक शब्दों के प्रयोग का नियम नही रहेगा।

जो वैयाकरण अर्थभेद के बिना कालादि भेद स्वीकार करते हैं वे शब्दनयाभासी हैं। शायद कहा जाये कि इस तरह कालादि भेद से अर्थभेद मानना व्याकरणशास्त्र तथा लोक प्रचलित परम्परा के विरुद्ध है। रहे विरुद्ध, तत्त्व विचार में इस प्रकार के विरोधों का महत्त्व नही है। औषधि कभी भी रोगी की इच्छा के अनुसार नही दी जाती है। इस विरोध को दूर करने का उपाय स्याद्वाद है। स्याद्वाद के द्वारा ही विरोधों का उपशमन सम्भव है।

इस तरह नैगम आदि तीन नय द्रव्यार्थिक हैं और ऋजुसूत्र आदि चार नय पर्यायार्थिक हैं। ये नय परस्परसापेक्ष होकर ही व्यवहारोपयोगी होते है, निरपेक्ष नही। इसलिये विरोध का अवसर नही आ सकता, क्योंकि लोक व्यवहार सभी से होता है किसी एक से नही। अत. जहाँ जिस नय की आवश्यकता हो वहाँ उसका प्रयोग करना उचित है। नैगम, सग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र— ये चार अर्थनय हैं तथा शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूत— ये तीन नय शब्दनय हैं, क्योकि ये शब्द के आश्रय से प्रवृत्त होते हैं ॥४४॥

बौद्ध का कहना है कि शब्द सकेतित अर्थ को ही कहते हैं अर्थात् जिस शब्द का जो वाच्यार्थ ग्रहण कर लिया जाता है, जैसे अमुक आकार वाले को घट कहते है तो उस शब्द से उसी अर्थ का ग्रहण होता है। किन्तु शब्द और अर्थ को ग्रहण किये बिना संकेत ग्रहण सभव नहीं है। प्रत्यक्ष से तो शब्द और अर्थ का ग्रहण सम्भव नहीं है, क्योंकि शब्द को ग्रहण करने वाले श्रावण प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति उसके वाच्यार्थ मे नही होती और वाच्यार्थ को ग्रहण करने वाले चाक्षुष प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति शब्द में नही होती। प्रत्यक्ष से यदि सकेत ग्रहण सम्भव भी मान लिया जाये तो भी वह व्यवहार में उपयोगी नही हो सकता, क्योंकि जिस शब्द और अर्थ में सकेत ग्रहण किया था वे तो उसी समय नष्ट हो जाते हैं। स्मृति से भी सम्भव नही हैं, क्योंकि स्मृति का वे विषय नही हैं, वे तो नष्ट हो चुके हैं। इसी से स्मृति को निर्विषय कहा है। इसका निराकरण करते हैं—

अक्षबुद्धिरतीतार्थं वेत्ति चेन्न कुतः स्मृतिः ।
प्रतिभासभिदैकार्थे दूरासन्नाक्षबुद्धिवत् ॥४५॥

अर्थ—यदि इन्द्रियजन्य ज्ञान अतीत अर्थ को जानता है तो स्मृति अतीत अर्थ को क्यों नही जानती, अपितु जानती है। शायद आप कहें कि ऐसी स्थिति में दोनों का एक ही विषय होने से दोनों का प्रतिभास भी एकसा ही होगा, या ऐसी स्थिति में स्मृति

को प्रमाण कैसे माना जा सकता है, क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञान से पूर्व गृहीत अर्थ को ही स्मृति जानती है तो उसका समाधान यह है कि दोनों का विषय एक होने पर भी दोनों के प्रतिभास में भेद है । जैसे एक ही वृक्ष को दूर और निकट जानने वाले इन्द्रियज्ञानों में स्पष्ट और अस्पष्ट प्रतिभास का भेद देखा जाता है ॥४५ ॥

विशेषार्थ— बौद्ध स्मृति को प्रमाण नही मानता, क्योंकि उसका विषय अतीत है । पहले प्रत्यक्ष से देखी हुई वस्तु को ही स्मृति जानती है । जैनों का कहना है कि क्षणिकवादी बौद्धमत में प्रत्यक्ष भी तो अतीत अर्थ को ही जानता है । क्योंकि जिस क्षण में अर्थ उत्पन्न होता है उस क्षण में तो प्रत्यक्ष उसे जान नही सकता, क्योकि वह उत्पन्न होता है । दूसरे क्षण में वह नष्ट हो जाता है और उसे ही प्रत्यक्ष जानता है, तो जैसे प्रत्यक्ष अतीत अर्थ को जानता है वैसे ही स्मृति भी जानती है, फिर इसमें दोष क्या है ? तब बौद्ध की दूसरी आपत्ति यह है कि जब प्रत्यक्ष से जाने हुए अर्थ को ही स्मृति जानती है तो उन दोनों का विषय तो एक ही हुआ । और ऐसी स्थिति में गृहीतग्राही होने से (जाने हुए को जानने से) स्मृति प्रमाण कैसे हो सकती है ? तो जैनों का कहना है कि दोनों का विषय एक होने पर भी दोनों के जानने में भेद है । प्रत्यक्ष जिसे 'यह देवदत्त' इस रूप में जानता है उसे ही स्मृति कालान्तर में 'वह देवदत्त' इस रूप में जानती है । पहला प्रत्यक्षज्ञान स्पष्ट है तो दूसरा स्मृतिज्ञान अस्पष्ट है । जैसे एक ही वृक्ष को एक आदमी निकट से जानता है, दूसरा दूर से जानता है । यद्यपि दोनों का विषय वृक्ष एक ही है, किन्तु दूरवर्ती मनुष्य को उसका अस्पष्ट बोध होता है और निकटवर्ती मनुष्य को उसका स्पष्ट बोध होता है । ऐसा ही प्रत्यक्ष और स्मृति के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये ॥४५ ॥

इस पर पुन बौद्ध कहता है कि शब्द और अर्थ का कोई सम्बन्ध नही है तथा अर्थ के अभाव में शब्दज्ञान होता है, तब शब्दज्ञान को प्रमाण कैसे माना जा सकता है और ऐसी स्थिति में शब्दादिनय कैसे सम्यक् हो सकते है ? इसका समाधान करते है—

अक्षशब्दार्थविज्ञानमविसंवादतः समम् ।
अस्पष्टं शब्दविज्ञानं प्रमाणमनुमानवत् ॥४६ ॥

अर्थ— इन्द्रियों से होने वाला पदार्थ का सशयादि रहित ज्ञान और शब्द से होने वाला सशयादि रहित ज्ञान—ये दोनों ही समानरूप से प्रमाण हैं, क्योंकि दोनों में कोई

विसंवाद नही पाया जाता है । अन्तर यही है कि शब्द से होने वाला विशिष्टज्ञान अस्पष्ट होता है, अतः अनुमान की तरह वह भी प्रमाण है ॥४६ ॥

विशेषार्थ—सामान्यविशेषात्मक वस्तु के संशयादि से रहित विशिष्ट ज्ञान को विज्ञान कहते हैं । वह ज्ञान चाहे इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न हुआ हो या शब्द से उत्पन्न हो, दोनों ही प्रकार के ज्ञान समानरूप से प्रमाण हैं, क्योंकि जैसे इन्द्रियजन्य ज्ञान अविसंवादी होने से प्रमाण है वैसे ही शब्दजन्यज्ञान भी अविसंवादी होने से प्रमाण है । शायद कहा जाये कि जब अप्रामाणिक पुरुष के शब्दों से उत्पन्न हुआ ज्ञान असत्य होता है तब इसी तरह प्रामाणिक पुरुष के शब्दो को सुनकर उत्पन्न होने वाला ज्ञान भी असत्य क्यों नही है ? तो इसका उत्तर यह है कि कभी-कभी इन्द्रियजन्यज्ञान भी असत्य देखा जाता है तो क्या सभी प्रत्यक्ष ज्ञानो को झूठा कहा जायेगा ? इस तरह तो सर्वत्र ही अप्रमाणता की आशङ्का हो जायेगी । शायद कहे कि इन्द्रियजन्यज्ञान तो प्रमाण है, क्योंकि वह स्पष्ट होता है । किन्तु शब्दज्ञान स्पष्ट नही होता है,अपितु अस्पष्ट होता है, अत· वह अप्रमाण है, परन्तु ऐसा कहना ठीक नही है । अस्पष्ट शब्दज्ञान भी अविसवादी होने से प्रमाण है । प्रामाण्य या अप्रामाण्य मे कारण स्पष्टता और अस्पष्टता नही है । जो ज्ञान स्पष्ट हो वह प्रमाण है और जो ज्ञान अस्पष्ट हो वह अप्रमाण है, ऐसा कोई नियम नही है । जिस ज्ञान मे विसवाद नही होता वह प्रमाण होता है और जिस ज्ञान मे विसंवाद होता है अर्थात् कुछ को कुछ जान लिया जाता है वह अप्रमाण होता है । अनुमान ज्ञान भी अस्पष्ट होता है, फिर भी अविसवादी होने से ही उसे प्रमाण माना जाता है । उसी तरह शब्दज्ञान को भी अविसवादी होने से प्रमाण मानना चाहिये ॥४६ ॥

शङ्का—आपने कहा है कि काल, कारक और लिंग के भेद से शब्दनय अर्थभेद मानता है, किन्तु ऐसा कहना अयुक्त है, क्योंकि कालादि का ग्राहक कोई प्रमाण नही है । इसका उत्तर देते हैं—

कालादिलक्षणं न्यक्षेणान्यत्रेक्ष्यं परीक्षितम् ।
द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मार्थनिष्ठितम् ॥४७ ॥

अर्थ—काल, कारक आदि के लक्षण का विचार विस्तार से **तत्त्वार्थवार्तिक** आदि ग्रन्थो मे किया गया है, अत वहाँ देखना चाहिये । कालादि द्रव्यपर्यायात्मक और सामान्यविशेषात्मक अर्थ में निष्ठित हैं, अर्थात् तद्रूप है ॥४७ ॥

विशेषार्थ—काल, कारक, लिंग, संख्या, साधन और उपग्रह आदि के असाधारण स्वरूप का विचार **तत्त्वार्थवार्तिक** के प्रथम तथा पञ्चम अध्याय में विस्तार से किया है, अतः यहाँ उनका कथन न करके **अकलङ्कदेव** ने उन्हें वहाँ देखने की प्रेरणा की है। पूर्व और उत्तर पर्याय मे व्यापक ऊर्ध्वता सामान्य को **द्रव्य** कहते है, जैसे स्थास आदि पर्यायों में मिट्टी अनुस्यूत रहती है। एक द्रव्य में क्रम से होने वाले परिणमनो को **पर्याय** कहते हैं। सदृश परिणाम को **तिर्यक् सामान्य** कहते हैं। एक पदार्थ की अपेक्षा दूसरे पदार्थ मे रहने वाले विसदृश परिणाम को **विशेष** कहते हैं। इस प्रकार की द्रव्यपर्यायात्मक और सामान्यविशेषात्मक वस्तु ही अर्थक्रिया में समर्थ हो सकती है। निरपेक्ष एकान्तवाद में वस्तु व्यवस्था नही बनती है। पर्याय से रहित केवल द्रव्य या द्रव्य से रहित केवल पर्याय कही भी दृष्टिगोचर नही होते। इसी तरह विशेष से शून्य सामान्य और सामान्य से शून्य विशेष भी दृष्टिगोचर नही होता। अत एकान्तवाद मे काल का लक्षण वर्तना नही बनता और वर्तना के बिना भूत, भविष्यत् और वर्तमान भेद नही बनते। इसी तरह एकान्तवाद में कारक का लक्षण भी नही बनता। कारक या तो द्रव्य को मानते है या उसकी शक्ति को मानते हैं या दोनो को मानते है। शक्ति और शक्तिमान् में सर्वथा भेद मानने पर सह्य और विन्ध्य पर्वत की तरह उनमे सम्बन्ध नही बन सकता। शायद कहा जाये कि जैसे राजा और राजपुरुष दोनो भिन्न है, फिर भी उनमे उपकार्य-उपकारकभाव है, वैसे ही यदि शक्ति और शक्तिमान् मे भी है तो उन दोनो मे अन्यशक्ति माननी होगी और तभी उनमें उपकार्य-उपकारकभाव बन सकेगा। ऐसी स्थिति में उस अन्य शक्ति के साथ भी सम्बन्ध सिद्ध करने के लिये उपकार्य-उपकारकभाव मानना होगा और फिर उसके लिये भी अन्यशक्ति की कल्पना करनी होगी, इस तरह अनवस्था दोष आता है। यदि शक्ति और शक्तिमान् मे सर्वथा अभेद माना जायेगा तो ऐसी स्थिति मे या तो शक्ति ही रहेगी या केवल शक्तिमान् ही रहेगा, क्योंकि दोनो सर्वथा अभिन्न हैं। केवल शक्ति तो बिना आधार के रह नही सकती, यदि शक्ति ही अकेली रह सके तो द्रव्य की कल्पना निष्फल हो जायेगी। इसी तरह शक्ति के अभाव में केवल शक्तिमान् भी नहीं रह सकता। इस तरह भेदैकान्त और अभेदैकान्त मे शक्ति और शक्तिमान् के न बनने से छहों कारको का अभाव सिद्ध होता है, क्योंकि कारकों के अभाव मे उनका समूह कैसे बन सकता है। कारको की व्यवस्था न बनने से लिग व्यवस्था भी नही बन सकती, क्योंकि लिंग व्यवस्था मे कारक व्यवस्था कारण

है । अतः एक के अभाव में दूसरे का भी अभाव अवश्यम्भावी है । तथा देवो के स्वामी एक अर्थ के वाचक इन्द्र, शक्र और पुरन्दर शब्दों की पर्याय भेद से भिन्नार्थता अर्थात् इन्दन करने से इन्द्र, शक्तिशाली होने से शक्र और पुरों का दारण करने से पुरन्दर नही बनती, क्योंकि देवों के स्वामी रूप एक अर्थ मे तथा उसकी शकन आदि क्रियाओं में भेदैकान्त या अभेदैकान्त मानने से विरोध आता है । भेदैकान्त मानने पर दोनो मे सम्बन्ध सिद्ध नही होता । अभेदैकान्त मानने पर इन्दन आदि क्रियाएँ एक हो जायेंगी, किन्तु वे क्रियाएँ एक नही हैं ।

शायद कहें कि कारक का लक्षण न तो द्रव्य है, न शक्ति है और न वे दोनो ही हैं, किन्तु क्रिया से युक्त द्रव्य कारक होता है । इस पर से जैनों का कहना है कि इसीलिये तो एकान्तवाद मे क्रिया और कारक असम्भव हैं, क्योंकि उक्त प्रकार से उनमें विरोध आता है । अत' अनेकान्तवाद को मानना चाहिये । अनेकान्तवाद में विरोधादि दोष नही आते हैं ॥४७ ॥

यही बात आगे कहते है—

एकस्यानेकसामग्रीसन्निपातात् प्रतिक्षणम् ।
षट्कारकी प्रकल्प्येत तथा कालादिभेदतः ॥४८ ॥

अर्थ—प्रतिक्षण अनेक सामग्री के मिलने से एक भी जीवादि वस्तु मे छहो कारक घटित होते है । तथा कालादि के भेद से भी एक ही वस्तु में छहों कारक घटित होते हैं ॥४८ ॥

विशेषार्थ— अनेक प्रकार की अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग सामग्री के मिलने से एक ही व्यक्ति में एक ही समय में छहों कारक घटित होते हैं । जैसे देवदत्त चाक आदि की सहायता से घट बनाता है, अत वह कर्त्ता है । घट बनाते समय अनेक व्यक्ति उसे देख रहे हैं, अत' वह उनकी दृष्टि का विषय होने से कर्म है । वह घट कोई देवदत्त से बनवा रहा है, अत देवदत्त कारण है । उसके लिये कोई उसे द्रव्य दे रहा है, अत. वह सम्प्रदान है । तोड़-फोड़ करने वाले बालकों को देवदत्त डाँटता है । मार क भय से बच्चे उससे भागते है, अत' वह अपादान है । देवदत्त के कानों में कुण्डल है, अत. वह अधिकरण है । इस प्रकार अनेक सामग्रियों के मिलने से एक ही देवदत्त में एक ही समय में छहो

कारक घटित होते हैं । तथा काल आदि के भेद से भी एक देवदत्त में छहों कारक घ
होते हैं । जैसे देवदत्त ने किया, देवदत्त करता है, देवदत्त करेगा ।

दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि जैसे एक ही में सामग्री भेद से कालादि
घटित होते हैं । सर्वथा अभेद में काल-कारक आदि भेद नहीं बन सकते ।

इस प्रकार सभी नैगमादि नय प्रत्यक्ष और अनुमानादि से अविरुद्ध होने के क
सुनय हैं । किन्तु एकान्तवाद में ये ही दुर्नय हो जाते हैं, क्योंकि वहाँ प्रत्यक्षादि प्रम
से विरोध आता है । अतः **अकलङ्कदेव** ने ठीक ही कहा है कि भेदाभेदात्मक वस्
भेद और अभेद रूप जो अभिप्राय होते हैं, उन्हें नय कहते हैं । वे नय सापेक्ष होन
सुनय हैं और निरपेक्ष होने से दुर्नय हैं ।

यहाँ एक शङ्का हो सकती है कि सिद्धान्त मे सर्वत्र नैगमनय को प्रथम स्थान दि
गया है, किन्तु यहाँ **अकलङ्कदेव** ने संग्रह को प्रथम स्थान दिया है, इसका कारण
है ?

नयो का क्रम सिद्धान्त-ग्रन्थों में उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषय के अनुसार तथा पूर्व
का नय उत्तरनय मे हेतु होता है—इन दो दृष्टियो से रखा है । जैसे सब से सूक्ष्म वि
एवम्भूतनय का है, वह क्रिया के भेद से अर्थ में भेद मानता है । उससे समभिरूढ
का विषय अधिक है, वह पर्यायशब्द के भेद से अर्थभेद मानता है । उससे शब्द
का विषय अधिक है, वह काल-कारक आदि के भेद से अर्थभेद मानता है । उ
ऋजुसूत्र का विषय अधिक है, वह शब्द के गोचर विषय को छोड़कर एक क्षण
पर्याय को विषय करता है । व्यवहारनय का विषय उससे भी अधिक है, वह प
विशिष्ट द्रव्य को ग्रहण करता है, इसी से उसकी गणना द्रव्यार्थिकनय के भेदो में
जाती है । व्यवहारनय से सग्रहनय बहुविषय है, वह समस्त द्रव्यो और पर्यायों मे व
सत्ता का ग्राहक है । नैगमनय का विषय सग्रहनय से भी अधिक है, वह गौणता
मुख्यता से सत् और असत् दोनों का ग्राहक है । अत. विषय की अपेक्षा
सिद्धान्त-ग्रन्थों मे नैगमनय को सबसे प्रथम रखा है । यहाँ न्यायशास्त्र में सा
नास्तिकों के विवादों का निराकरण करने के लिये समस्त पदार्थों के अस्तित्व के सू
सग्रहनय को पूर्व स्थान दिया है, इसमे कोई विरोध नही है ॥४८ ॥

बौद्ध आदि वादियों का कहना है कि नय तो विकल्प स्वरूप है, इसलिये वह स्मृति आदि की तरह तत्त्व को जानने में साधन नहीं हो सकता। इस आपत्ति को दूर करते हुए **अकलङ्कदेव** इस प्रकरण का उपसहार करते है—

व्याप्तिं साध्येन हेतोः स्फुटयति न विना चिन्तयैकत्रदृष्टिः,
साकल्येनैव[१] तर्कोऽनधिगतविषयः तत्कृतार्थैकदेशे।
प्रामाण्ये चानुमायाः स्मरणमधिगतार्थाविसंवादि सर्वम्,
संज्ञानञ्च प्रमाणं समधिगतरतः सप्तधाख्यैर्नयौघैः ॥४९ ॥

अर्थ—तर्क नामक प्रमाण के बिना एक ही स्थान में होने वाला प्रत्यक्ष साध्य के साथ साधन की व्याप्ति को समस्त देशकाल रूप से प्रकाशित नही करता। यह काम तर्क ही करता है, उसका विषय व्याप्ति किसी अन्य प्रमाण के द्वारा नही जाना जाता, अत तर्क अनधिगत विषय है और प्रमाण है। तथा स्मृति भी प्रमाण है। यद्यपि प्रत्यक्ष के द्वारा जाने गये विषय को ही स्मृति जानती है तथापि वह अविसवादी है, क्योकि स्मृति से जाने हुए विषय मे कोई विसवाद नही होता है। तर्क के द्वारा जानी गई व्याप्ति के एक देश साध्य के विषय मे अनुमान का प्रामाण्य तर्क और स्मृति के प्रामाण्य पर निर्भर है। इस तरह ये सभी प्रमाण हैं, अत सात नयो के द्वारा जीवादि पदार्थों का सम्यग्ज्ञान होता है ॥४९ ॥

विशेषार्थ—रसोईघर मे एकबार धूम के साथ अग्नि के देखने पर भी प्रत्यक्ष मे यह शक्ति नही है कि वह 'जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ आग होती है। जहाँ आग नही होती, वहाँ धूम भी नही होता'। इस प्रकार की व्याप्ति को ग्रहण कर सके। यह काम तो तर्क नाम के प्रमाण का ही है। व्याप्ति सर्वव्यापक होती है, उसे तर्क प्रमाण ही जानता है। प्रत्यक्ष से धूम और अग्नि तो जानी जाती हैं, किन्तु उनका सार्वकालिक और सार्वदेशिक अविनाभाव सम्बन्ध तर्क ही जानता है, अत तर्क का विषय किसी अन्य प्रमाण के द्वारा नही जाना जा सकता है। इसी तरह स्मृति भी प्रमाण है। यद्यपि वह प्रत्यक्ष से जानी हुई वस्तु को ही कालान्तर में जानती है, किन्तु उसका विषय प्रत्यक्ष से भिन्न है तथा वह अविसवादी है। यदि स्मृति प्रमाण न हो तो अनुमान भी प्रमाण नही हो सकता, क्योकि तर्क प्रमाण से जानी हुई व्याप्ति के स्मरण होने पर ही अनुमान उत्पन्न होता है। इस तरह ये सभी ज्ञान विकल्पात्मक होने पर भी प्रमाण है। इन्ही की

तरह नय भी विकल्पात्मक होते हुए भी प्रमाण है, अतः उनसे भी पदार्थ का सम्यग्ज्ञान होता है। इन दोनों में अन्तर इतना ही है कि प्रमाण द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु को जानता है और नय प्रमाण से गृहीत वस्तु के एकदेश द्रव्य या पर्याय को सापेक्ष ग्रहण करता है। इसी से कहा है कि प्रमाण सकलादेशी है और नय विकलादेशी है ॥४९ ॥

इस प्रकार नयों के द्वारा जीवादि पदार्थों का सम्यग्ज्ञान होने से बौद्धादि के मत में तत्त्वज्ञान का निरास बतलाते हुए ग्रन्थकार उपसहार करते हैं—

सर्वज्ञाय निरस्तबाधकधिये स्याद्वादिने ते नम-
स्तात्प्रत्यक्षमलक्षयन् स्वमतमभ्यस्याप्यनेकान्तभाक् ।
तत्त्वं शक्यपरीक्षणं सकलविन्नैकान्तवादी ततः,
प्रेक्षावानकलङ्क याति[१] शरणं त्वामेव वीरं जिनम् ॥५० ॥

अर्थ—यत प्रमाण और नय से जीवादि तत्त्वों का सम्यग्ज्ञान होता है, अत. एकान्तवादी बौद्ध आदि अपने मत का अभ्यास करके, प्रत्यक्ष से ग्राह्य और परीक्षा करने के लिये शक्य भी अनेकान्तात्मक तत्त्व की ओर लक्ष्य नही करते। अत वे सर्वज्ञ नही हो सकते। इसलिये विचारशील निर्दोष परीक्षक जन आप वीर जिनेन्द्र की ही शरण में जाते हैं। अत सर्वज्ञाता, दोष और आवरण से रहित ज्ञानवान् तथा स्याद्वादी आपके लिये हमारा नमस्कार है ॥५० ॥

विशेषार्थ—विचार करने पर वस्तु तत्त्व अनेकान्तात्मक ही सिद्ध होता है, फिर भी जो एकान्तवादी हैं वे अपने मत के अभ्यास से इतने बँध गये हैं कि प्रत्यक्ष से प्रतीत और जिसकी परीक्षा भी की जा सकती है, ऐसे तत्त्व को भी दुर्लक्ष्य करते हैं। तत्त्व के यथार्थ स्वरूप को न जानने वाले ऐसे एकान्तवादी कैसे सर्वज्ञ हो सकते हैं? इसी से विचारक जन स्याद्वादी महावीर भगवान् की शरण में जाते हैं, क्योंकि वे सर्वज्ञ हैं, उनके ज्ञान की सब अन्तरङ्ग और बाह्य बाधाएँ दूर हो गई हैं। अत. ग्रन्थकार उन्हें नमस्कार करते हैं ॥५० ॥

॥द्वितीय नयप्रवेश के अन्तर्गत पञ्चम नयपरिच्छेद समाप्त ॥

॥द्वितीय नयप्रवेश समाप्त ॥

---

१ 'प्रेक्षावानकलङ्कमेति' — अकलङ्कग्रन्थत्रयम्, पृष्ठ १७।

तृतीय प्रवचनप्रवेश : षष्ठ प्रवचनपरिच्छेद

आगे आगम के स्वरूप का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार मङ्गलरूप इष्ट देवता के गुणों का स्तवन करते हैं—

प्रणिपत्य महावीरं स्याद्वादेक्षणसप्तकम् ।
प्रमाण-नय-निक्षेपानभिधास्ये यथागमम् ॥५१ ॥

अर्थ—जिनसे शिष्यों को स्याद्वादरूपी सात दृष्टियों की प्राप्ति होती है, उन भगवान् महावीर को नमस्कार करके प्रमाण, नय और निक्षेप का स्वरूप आगम के अनुसार कहूँगा ॥५१ ॥

आगे सक्षेप से प्रमाण आदि का लक्षण कहते हैं—

ज्ञानं प्रमाणमात्मादे रुपायो न्यास इष्यते ।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः ॥५२ ॥

अर्थ—स्व और पर के ज्ञान को **प्रमाण** कहते हैं । जानने के नामादि रूप उपाय को **निक्षेप** कहते हैं । ज्ञाता के अभिप्राय को **नय** कहते हैं । युक्ति अर्थात् प्रमाण, नय, निक्षेप के द्वारा ही जीवादि पदार्थों का ग्रहण होता है ॥५२ ॥

विशेषार्थ—जैनदर्शन में स्व और पर के अर्थात् अपने और बाह्य पदार्थ के निश्चयात्मक ज्ञान को ही प्रमाण माना है । '**आत्मादे.**' पद में से 'आत्मा' शब्द से 'स्व' का और 'आदि' शब्द से बाह्य पदार्थ का ग्रहण किया गया है । दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि आत्मा से और आदि शब्द से ज्ञानावरण कर्म के क्षय, क्षयोपशम तथा बाह्य कारण इन्द्रिय आदि की सहायता से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही प्रमाण है । जानने के उपाय को **निक्षेप** कहते हैं । वह उपाय नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप है । इनसे नामादि रूप वस्तु का ठीक-ठीक बोध होता है और उसमें किसी तरह का विसवाद नही होता है । वस्तु के विषय में ज्ञाता का जो अभिप्राय होता है, वही नय है । प्रत्येक ज्ञाता अपने प्रयोजन के अनुसार वस्तु के किसी एक धर्म को ग्रहण करता है । वह एक धर्म वस्तु का एक अंश होता है उस एक अंश को लेकर ही अपने अभिप्राय के अनुसार वस्तु व्यवहार करता है दूसरा ज्ञाता उस वस्तु के किसी दूसरे अंश या धर्म को लेकर वस्तु व्यवहार करता है । इस तरह एक ही वस्तु में ज्ञाताओं के जो विभिन्न अभिप्राय होते हैं उन्हें नय कहते हैं । यदि ज्ञाता अपने अभिप्राय को ही सत्य और

दूसरे अभिप्रायों को असत्य माने तो वह सुनय नही, दुर्नय कहलाता है । इन प्रमाण, नय और निक्षेपों से ही वस्तु का यथार्थज्ञान होता है, अतः इन्हें जानने की आवश्यकता है ।।५२।।

बौद्ध का मत है कि अर्थ भी ज्ञान का कारण है । इसी से जो ज्ञान जिस अर्थ मे उत्पन्न होता है वह उसे ही जानता है । जिससे उत्पन्न नही होता उसे नही जानता । इसका निराकरण करते हैं—

अयमर्थ इति ज्ञानं विद्यान्नोत्पत्तिमर्थतः ।
अन्यथा न विवादः स्यात् कुलालादिघटादिवत्।।५३ ।।

अर्थ—'यह अर्थ है' ऐसा ज्ञान जानता है, किन्तु मैं इस अर्थ से उत्पन्न हुआ हूँ यह नही जानता । यदि जानता तो उसमें विवाद न होता । जैसे कुम्हार वगैरह से घट आदि की उत्पत्ति होने मे कोई विवाद नही है ।।५३ ।।

विशेषार्थ—प्रत्यक्ष से जिससे जिसकी उत्पत्ति प्रतीत होती है, उससे उसकी उत्पत्ति मे कोई विवाद पैदा नही होता । जैसे कुम्हार से घट की उत्पत्ति होने मे कोई विवाद नही करता । किन्तु अर्थ से ज्ञान की उत्पत्ति प्रत्यक्ष से प्रतीत नही होती, यह स्पष्ट है ।।५३ ।।

कहा जा सकता है कि अर्थ से ज्ञान की उत्पत्ति प्रत्यक्ष से भले ही प्रतीत न होती हो, किन्तु अनुमान से तो सिद्ध होती है । इस आशङ्का का परिहार करते हैं—

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थश्चेत्कारणं विदः ।
संशयादिविदुत्पादः कौतस्कुत इतीक्ष्यताम् ।।५४ ।।

अर्थ—यदि अन्वय-व्यतिरेक से अर्थ को ज्ञान का कारण कहा जाता है तो सशय और विपर्यय ज्ञान की उत्पत्ति किससे कही जायेगी, यह विचार करे ।।५४ ।।

विशेषार्थ—कारण के होने पर कार्य के होने को **अन्वय** कहते है और कारण के न होने पर कार्य के न होने को **व्यतिरेक** कहते हैं । यदि अन्वय और व्यतिरेक के आधार पर अर्थ को ज्ञान का कारण माना जाता है (क्योंकि अर्थ के होने पर ज्ञान होता है और अर्थ के न होने पर ज्ञान नही होता है) तो **जैनों** का कहना है कि मिथ्याज्ञान— सशय, विपर्यय कैसे उत्पन्न होगे ? सामने ऊँचे से पदार्थ को देखकर 'यह ठूँठ है या

मनुष्य' ऐसा संशय ज्ञान होता है। इस संशय ज्ञान में स्थाणु-पुरुष रूप अर्थ तो कारण नहीं है, क्योंकि उभय रूप कोई अर्थ नहीं है। इसी तरह सीप में होनेवाला चाँदी का ज्ञान विपर्ययज्ञान है। यहाँ चाँदी के अभाव में भी चाँदी का ज्ञान होता है। अतः अर्थ के साथ ज्ञान का अन्वय-व्यतिरेक सिद्ध नहीं होता है ॥५४॥

नैयायिक का कहना है कि इन्द्रिय और अर्थ के होते हुए भी यदि उन दोनों का सम्बन्ध न हो तो ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि दोनों का सम्बन्ध होने पर ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है, अतः सन्निकर्ष ही ज्ञान की उत्पत्ति में साधकतम है, इन्द्रिय और मन ज्ञान के कारण नहीं हैं। इस आशङ्का का खण्डन करते हैं—

सन्निधेरिन्द्रियार्थानामन्वयव्यतिरेकयोः ।
कार्यकारणयोश्चापि बुद्धिरध्यवसायिनी ॥५५॥

अर्थ—इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष के भी अन्वय-व्यतिरेक और कार्यकारणभाव की निश्चायिका (निश्चय करने वाली) बुद्धि ही है। अर्थात् ज्ञान से ही उनका निर्णय होता है ॥५५॥

विशेषार्थ—सन्निकर्ष आदि का निर्णय ज्ञान से होता है, सन्निकर्ष आदि से ज्ञान का निर्णय नहीं होता है, क्योकि जब तक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, तब तक किसी का भी निर्णय नहीं होता। यदि होता तो फिर ज्ञान को ही उत्पन्न करने की क्या आवश्यकता थी। आत्मा, मन, इन्द्रिय और अर्थ तो अतीन्द्रिय हैं, उनके सन्निकर्ष को जानना शक्य नहीं है। तब कैसे ज्ञान की उत्पत्ति में सन्निकर्ष स्वीकार किया जा सकता है। साराश यह है कि सन्निकर्ष आदि के होते हुए भी जब तक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, तब तक सन्निकर्ष की, सन्निकर्ष और ज्ञान के अन्वय-व्यतिरेक की तथा इन्द्रिय और सन्निकर्ष व सन्निकर्ष और ज्ञान के कार्यकारणभाव की व्यवस्था नहीं हो सकती। यदि ज्ञान के बिना भी यह सम्भव हो तो ज्ञान की कल्पना ही व्यर्थ हो जाये। किन्तु ज्ञान के उत्पन्न होने पर दूसरे की अपेक्षा के बिना ही तत्त्व की व्यवस्था हो जाती है, अतः साधकतम होने से ज्ञान ही प्रमाण है, सन्निकर्ष आदि नहीं ॥५५॥

आगे कहते है कि प्रकाश भी ज्ञान का कारण नहीं है—

तमो निरोधि वीक्षन्ते तमसा नावृतं परम् ।
कुड्यादिकं न कुड्यादितिरोहितमिवेक्षकाः ॥५६॥

अर्थ—चक्षुष्मान् मनुष्य अन्य पदार्थों को ढाँकने वाले अन्धकार को तो देखते हैं, किन्तु अन्धकार से आच्छादित दूसरे पदार्थ को नही देखते । जैसे देखने वाले दीवाल वगैरह को तो देखते हैं, किन्तु दीवाल वगैरह के पीछे छिपे हुए घट आदि को नही देखते हैं ॥५६ ॥

विशेषार्थ—प्रकाश के अभाव में भी अन्धकार का ज्ञान होता है, तब ज्ञान को प्रकाश का कार्य कैसे कहा जा सकता है ? जो जिसके अभाव में भी उत्पन्न होता है, वह उसका कार्य नही हैं, जैसे चक्षु के अभाव में भी उत्पन्न हुआ रसज्ञान चक्षु का कार्य नही है । प्रकाश के अभाव में भी अन्धकार के रूप आदि का ज्ञान होता है, अतः ज्ञान प्रकाश का कार्य नही है । शायद कहें कि यदि प्रकाश ज्ञान का कारण नही है तो अन्धकार में रखे घट आदि का ज्ञान होना चाहिये । किन्तु ऐसा कहना ठीक नही है, क्योंकि अन्धकार घटादि के ज्ञान का प्रतिबन्धक है । जैसे दीवाल का एक भाग देखने वाले को उसका दूसरा भाग दिखाई नही देता है, क्योंकि वह उसका प्रतिबन्धक है । यदि अन्धकार को चक्षुज्ञान मात्र का प्रतिबन्धक माना जाता है तो पर भाग की तरह दीवाल के अग्र भाग का भी दर्शन नही होगा, क्योंकि जो जिस ज्ञान का प्रतिबन्धक होता है, वह उस ज्ञान के द्वारा ग्राह्य नही होता, जैसे अन्धकार । वैसे ही अग्र भाग भी पर भाग के ज्ञान का प्रतिबन्धक है ॥५६ ॥

यदि ज्ञान अर्थ से उत्पन्न नही होता तो वह सभी पदार्थों को क्यों नही जानता ? इस आशङ्का का परिहार करते हैं—

मलविद्धमणिव्यक्तिर्यथाऽनेकप्रकारतः ।
कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथाऽनेकप्रकारतः ॥५७ ॥

अर्थ—जैसे मल से लिप्त मणि की अभिव्यक्ति-उसके तेज का प्रादुर्भाव अनेक प्रकार से देखा जाता है, वैसे ही कर्मों से लिप्त आत्मा का पदार्थज्ञान भी अनेक रूप से देखा जाता है ॥५७ ॥

विशेषार्थ—जैसे मणि यदि कालिमा आदि के सम्पर्क से मलिन हो जाती है तो उसकी मलिनता जैसे-जैसे दूर होती जाती है, वैसे ही वैसे उसमें चमक प्रकट होती है । इस तरह उसकी चमक के अनेक प्रकार देखने में आते हैं । वैसे ही ज्ञानावरण आदि कर्मों से लिप्त आत्मा भी जैसे-जैसे ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम होता जाता है,

वैसे-वैसे पदार्थों को अस्पष्ट या स्पष्ट रूप से एक देश या सर्वदेश से जानता है । अतः कर्मों के क्षयोपशम की अपेक्षा से उत्पन्न हुई इन्द्रियाँ और मन ज्ञान में निमित्त हैं, बाह्य अर्थ की उत्पत्ति में निमित्त नहीं हैं । उलूक वगैरह को आवरण का क्षयोपशम होने पर अन्धकार में भी रूप का दर्शन होता है और आवरण रहने पर प्रकाश के होते हुए भी संशय और विपरीत ज्ञान होते हैं । जिनकी आँखे काँच-कामल रोग से ग्रसित होती हैं, उन्हें सफेद शंख पीला दिखाई देता है । अत: अर्थ ज्ञान का कारण नहीं है । जब समस्त आवरण का क्षय हो जाता है तो समस्त पदार्थों का ज्ञान होता है । अतः ज्ञान की उत्पत्ति का नियामक आवरण का क्षयोपशम है । जिसके जैसा क्षयोपशम होता है, तदनुसार ही अर्थ का ज्ञान होता है ॥५७ ॥

बौद्ध का मत है कि ज्ञान जिस अर्थ से उत्पन्न होता है, जिसके आकार का अनुकरण करता है तथा जिसका निश्चायक होता है, उसी के विषय से वह प्रमाण होता है । इसका निराकरण करते हैं—

न तज्जन्म न ताद्रूप्यं न तद्व्यवसितिः सह ।
प्रत्येकं वा भजन्तीह प्रामाण्यं प्रति हेतुताम् ॥५८ ॥

अर्थ—ज्ञान का अर्थ से उत्पन्न होना, अर्थ के आकार होना और अर्थ का निश्चायक होना— ये तीनों मिलकर और पृथक्-पृथक् ज्ञान के प्रामाण्य में निमित्त नहीं होते ॥५८ ॥

विशेषार्थ—जो ज्ञान जिससे उत्पन्न होता है वह उसी को ग्रहण करता है, ऐसा मानने पर इन्द्रियों से व्यभिचार होता है । क्योंकि इन्द्रियों से उत्पन्न होने पर भी ज्ञान इन्द्रियों को ग्रहण नहीं करता । ज्ञान जिसके आकार होता है उसे ही ग्रहण करता है, ऐसा मानने पर भी दोष आता है । उत्तरक्षणवर्ती ज्ञान अपने पूर्वक्षणवर्ती ज्ञान से उत्पन्न होता है और उसी के आकार वाला होता है, फिर भी वह पूर्वक्षणवर्ती ज्ञान को ग्रहण नहीं करता । ज्ञान जिसका निश्चायक होता है उसी के विषय में प्रमाण होता है, ऐसा मानना भी आपत्तिकारक है । काँच-कामलादि रोगी को एक चन्द्रमा के स्थान पर दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं, अतः उसका ज्ञान दो चन्द्रमा का निश्चायक है, किन्तु चन्द्रमा तो दो नहीं, एक ही है, अतः प्रमाण नहीं है । तदाकारता, तदुत्पत्ति और तद्व्यवसाय— ये तीनों भी प्रामाण्य में निमित्त नहीं हैं । कामल रोगी को श्वेत शंख पीला दिखाई देता है ।

यद्यपि उसका ज्ञान शंख से उत्पन्न हुआ है, शंख के आकार है और शंख का ही निश्चायक है, फिर भी प्रमाण नहीं है। सारांश यह है कि न तो अर्थ ज्ञान का कारण है (क्योंकि ज्ञान के काल में अर्थ नही रहता, जैसे अतीत पदार्थ ज्ञान के काल में रहता है) और न ज्ञान अर्थ का कार्य है, क्योंकि अर्थ के अभाव में ही (बौद्धमत के अनुसार क्षणिक होने से) ज्ञान उत्पन्न है और अर्थ के होने पर ज्ञान उत्पन्न नही होता। न ज्ञान अर्थ के आकार को धारण करता है, क्योंकि ज्ञान अमूर्त है। दर्पण वगैरह मूर्त पदार्थ ही मूर्त मुख आदि के आकार को धारण करते हैं। अमूर्त मूर्त के प्रतिबिम्ब को धारण नही कर सकता। और ज्ञान अमूर्त है, क्योंकि उसमें मूर्तिक के धर्म नहीं पाये जाते। न तो ज्ञान में अर्थ रहता है और न ज्ञान अर्थाकार होता है। तब कैसे ज्ञान के प्रतिभासमान होने पर अर्थ का प्रतिभास सम्भव है। इसी से अर्थ का अध्यवसाय भी सम्भव नही है। तब कैसे तदाकारता, तदुत्पत्ति और तदध्यवसाय ज्ञान के प्रामाण्य के प्रति उपकारक हो सकते हैं ॥५८ ॥

अत अपने कारणों से उत्पन्न हुआ ज्ञान स्वयं ही अर्थ का ग्राहक है, ऐसा आगे ग्रन्थकार कहते हैं—

स्वहेतुजनितोऽप्यर्थः परिच्छेद्यः स्वतो यथा ।

तथा ज्ञानं स्वहेतूत्थं परिच्छेदात्मकं स्वतः ॥५९ ॥

अर्थ—जैसे अपने कारणों से उत्पन्न हुआ भी अर्थ स्वभाव से ही ज्ञेय होता है, अर्थात् ज्ञान के द्वारा जाना जाता है, वैसे ही अपने कारणो से उत्पन्न हुआ ज्ञान स्वभाव से ही अर्थ को ग्रहण करता है ॥५९ ॥

विशेषार्थ— अर्थ घट वगैरह अपने मिट्टी आदि कारणों से उत्पन्न होते हैं और ज्ञान अपने अन्तरङ्ग कारण ज्ञानावरण के क्षयोपशम तथा बाह्य कारण इन्द्रिय आदि से उत्पन्न होता है। फिर भी दोनों— अर्थ और ज्ञान में ज्ञेय-ज्ञायकभाव सम्बन्ध है। अर्थ ज्ञान के द्वारा जाना जाता है और ज्ञान अर्थ को जानता है। यह उन दोनों में स्वाभाविक सम्बन्ध है। इसमें न तदाकारता कारण है और न तदुत्पत्ति कारण है। दोनों अपनी-अपनी स्वाभाविक योग्यता से ही ज्ञेय और ज्ञायक या ग्राह्य और ग्राहक हैं। ऐसा माने बिना व्यवस्था बन नही सकती ॥५९ ॥

आगे उस ग्राह्य-ग्राहकभाव का फल बतलाते हैं—

व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम् ।
ग्रहणं निर्णयस्तेन मुख्यं प्रामाण्यमश्नुते ॥६० ॥

अर्थ— ज्ञान व्यवसायात्मक है— अर्थ के जाति आदि का निश्चायक है तथा अपने स्वरूप का और अर्थ का ग्राहक माना गया है । इसलिये स्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञान मुख्य प्रामाण्य का भागी है । अर्थात् वह मुख्य प्रमाण है ॥६० ॥

विशेषार्थ— **बौद्ध** कल्पना रहित निर्विकल्पकज्ञान को प्रमाण मानता है, उसके निराकरण के लिये ज्ञान को व्यवसायात्मक कहा है । अर्थात् ज्ञान के द्वारा जाति, गुण, क्रिया आदि से विशिष्ट वस्तु का ही ग्रहण होता है । आगे कहा है कि ज्ञान अपने को भी जानता है और अर्थ को भी जानता है । इससे जो वादी ज्ञान को केवल अपने स्वरूप का ही ग्राहक या केवल अर्थ का ही ग्राहक मानते हैं, उनका निराकरण किया है । चूकि ज्ञान निर्णयात्मक होता है, अत वही मुख्य रूप से प्रमाण है । ज्ञान के कारण इन्द्रिय आदि को उपचार से ही प्रमाण माना जा सकता है, मुख्यरूप से नही । मुख्यरूप से निर्णयात्मक ज्ञान ही प्रमाण है और वही समस्त व्यवहार का नियामक है ॥६१ ॥

इस तरह सामान्यरूप से व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण बतलाकर आगे उसके भेद कहते हैं—

तत्प्रत्यक्षं परोक्षं च द्विधैवात्रान्यसंविदाम् ।
अन्तर्भावान्न युज्यन्ते नियमाः परकल्पिताः॥६१ ॥

अर्थ—वह ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का ही है । इन्ही मे अन्य दार्शनिकों के द्वारा माने गये प्रमाणों का अन्तर्भाव हो जाता है, अत· उनके द्वारा कल्पित दो-तीन आदि प्रमाणों की संख्या का नियम उचित नही है ॥६१ ॥

विशेषार्थ— पहले जो व्यवसायात्मकज्ञान को प्रमाण कहा है, उसके दो ही भेद हैं— प्रत्यक्ष और परोक्ष । इन्ही में अन्यवादियों के द्वारा माने गये अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों का अन्तर्भाव हो जाता है । यह पहले बतलाया ही है ।

प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं— इन्द्रियजन्य, अनिन्द्रियजन्य और अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष । स्पर्शन आदि इन्द्रियों के व्यापार से उत्पन्न होने वाला **इन्द्रिय प्रत्यक्ष** है और केवल मन की सहायता से होने वाला **अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष** है । इन दोनों को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष

कहते हैं, क्योंकि ये दोनों एकदेश से स्पष्ट होते हैं । अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ही मुख्य प्रत्यक्ष है । इसके तीन भेद हैं अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान । केवल मूर्त्तद्रव्यों को जानने वाला **अवधिज्ञान** है । उसके भी तीन भेद हैं— देशावधि, परमावधि और सर्वावधि । इनमें से देशावधि भवप्रत्यय भी होता है और गुणप्रत्यय भी । देव और नारकियों के भवप्रत्यय देशावधि होता है, क्योंकि जो स्वर्ग और नरक में जन्म लेते हैं उनके जन्म से ही अवधिज्ञान होता है । अतः वहाँ अवधिज्ञान के होने में भव-जन्म ही मुख्य कारण है, व्रत नियमादि नहीं ।

तिर्यञ्च और मनुष्यों के गुणप्रत्यय देशावधि होता है । परमावधि और सर्वावधि गुणप्रत्यय ही होते हैं और ये चरमशरीरी मुनि के ही होते हैं । मनःपर्यय के दो भेद हैं— ऋजुमति और विपुलमति । जिसने किसी समय संसृत मन से किसी पदार्थ का स्पष्ट विचार किया, स्पष्ट वाणी से कोई विचार व्यक्त किया और शरीर से इसी प्रकार स्पष्ट क्रिया की, कालान्तर में वह उसे भूल गया । ऋजुमति ज्ञानी उसके मन की बात को स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष जान लेता है कि इसने अमुक समय में यह सोचा था, यह कहा था और यह किया था । यह कुटिलमन वालों की बात नहीं जानता । किन्तु विपुलमति ऋजु के साथ ही साथ कुटिल मन, वचन, काय सम्बन्धी प्रवृत्तियों को भी जानता है । अर्थात् यह अपने या पर के व्यक्त मन से या अव्यक्त मन से चिन्तित, अचिन्तित या अर्धचिन्तित— सभी प्रकार के चिन्ता, जीवित, मरण, सुख, दुःख, लाभ, अलाभ आदि को जानता है । समस्त आवरण और वीर्यान्तराय का पूरी तरह से क्षय हो जाने पर सब द्रव्यों की त्रिकालगत सब पर्यायों को एक साथ प्रत्यक्ष जानने वाला **केवलज्ञान** है । ऐसा कोई सर्वज्ञ, सर्वदर्शी पुरुष अवश्य होता है, क्योंकि उसका बाधक प्रमाण सुनिश्चित रूप से असम्भव है । प्रत्यक्ष तो सर्वज्ञ का बाधक हो नहीं सकता है, क्योंकि सर्वज्ञता जैसे अतीन्द्रिय विषय में इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति सम्भव नहीं है । यदि कहोगे कि सर्वज्ञ के विषय में निवृत्तमान प्रत्यक्ष सर्वज्ञ का बाधक है तो यह भी उचित नहीं है । इस तरह से तो दीवाल के दूसरे भाग का भी असत्त्व सिद्ध हो जायेगा । क्योंकि प्रत्यक्ष से उसका सामने वाला भाग ही दिखाई देता है । अनुमान प्रमाण भी सर्वज्ञ का बाधक नहीं हो सकता है । अनुमान की उत्पत्ति साध्य और साधन के सम्बन्ध ग्रहणपूर्वक ही होती है । अमुक पुरुष सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वह वक्ता है या पुरुष है । इस अनुमान में वक्तृत्व या पुरुषत्व हेतु के साथ असर्वज्ञता का साकल्येन सम्बन्ध कोई नहीं जान

सकता। अर्थात् कोई व्यक्ति ऐसा नहीं है जो यह कह सकता हो कि जो-जो वक्ता या पुरुष होता है वह सब असर्वज्ञ होता है, क्योंकि जो ऐसा जानेगा वही स्वयं सर्वज्ञ हो जायेगा। यदि उक्त अनुमान के साध्य-साधन का सम्बन्ध दूसरे अनुमान से जाना जायेगा तो दूसरे अनुमान के साध्य-साधन का सम्बन्ध तीसरे अनुमान से जाना जायेगा। इस तरह अनवस्था दोष आता है। तथा सर्वज्ञता का वक्तृत्व के साथ कोई विरोध भी नहीं है। सर्वज्ञ भी वक्ता हो सकता है, अतः वक्तृत्व आदि हेतु से सर्वज्ञ का निषेध सिद्ध नहीं हो सकता है। आगम भी सर्वज्ञ का बाधक नही है। अपौरुषेय आगम तो असिद्ध है और पौरुषेय आगम सर्वज्ञ का साधक ही है। जो वचन प्रत्यक्ष और अनुमान से अबाधित होता है, उसे ही आगम कहा जाता है, सब को नही। और ऐसा वचन सर्वज्ञ कथित ही हो सकता है। राग, द्वेष, मोह से आक्रान्त पुरुषवचन आगम नही हो सकता है, क्योंकि रागी-द्वेषी मनुष्य दृष्ट और इष्ट से अविरुद्ध वचन नही कह सकता है। शायद कहा जाये कि तब तो बुद्ध आदि का वचन भी आगम हो सकता है, अतः अर्हन्त का वचन ही आगम नही हो सकता। ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। बुद्ध आदि भी प्रत्यक्ष और अनुमान से विरुद्ध वक्ता है। अनेकान्तात्मक वस्तु का कथन करने वाला आगम ही दृष्ट और इष्ट से अविरुद्ध अर्थ का प्रतिपादक हो सकता है, अन्य नही ॥६१॥

आगे परोक्ष श्रुतज्ञान के व्यापार का कथन करते हैं—

उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ ।
स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसङ्कथा ॥६२॥

अर्थ— श्रुत के दो उपयोग या व्यापार होते हैं, उनके नाम हैं— स्याद्वाद और नय। स्याद्वाद सकलादेशी है और नय विकलादेशी है ॥६२॥

विशेषार्थ— जो सुना जाता है उसे श्रुत कहते हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार आप्तवचन को श्रुत कहते हैं। वर्ण-पद-वाक्य रूप द्रव्यश्रुत है और उसके श्रवण से जो ज्ञान होता है वह भावश्रुत है। उस श्रुत के दो उपयोग हैं— स्याद्वाद और नय। स्याद्वाद सकलादेशी है— सकल अर्थात् अनेक धर्मात्मक वस्तु का आदेश अर्थात् कथन करना। और अनेकान्तात्मक अर्थ के कथन का नाम स्याद्वाद है। जैसे छह द्रव्य हैं— जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें से जीव में ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य तो असाधारण धर्म हैं। ये धर्म अन्य द्रव्यों में नही पाये जाते हैं। अमूर्तत्व, असंख्यात प्रदेशत्व और सूक्ष्मत्व—ये गुण साधारण भी हैं, क्योंकि आकाश आदि में पाये जाते हैं और असाधारण भी है, क्योंकि पुद्गल द्रव्य में नहीं

पाये जाते हैं। सत्त्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व धर्म साधारण हैं और सब द्रव्यों में पाये जाते हैं। अतः जीव अनेकान्तात्मक है। पुद्गल द्रव्य में स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण—ये असाधारण धर्म हैं। सत्त्व, प्रमेयत्व आदि साधारण धर्म हैं। अचेतनत्व, मूर्त्तत्व आदि साधारण भी हैं और असाधारण भी। अत· पुद्गल भी अनेकान्तात्मक है। धर्म द्रव्य में गति हेतुत्व असाधारण धर्म है, सत्त्व आदि साधारण धर्म है, अचेतनत्व आदि साधारण-असाधारण— दोनों धर्म हैं। अत धर्म द्रव्य भी अनेकान्तात्मक है। अधर्म द्रव्य मे स्थिति हेतुत्व असाधारण धर्म है, सत्त्व आदि साधारण धर्म हैं, अमूर्तत्व आदि साधारण-असाधारण— दोनों धर्म हैं, अत· अधर्म द्रव्य भी अनेकान्तात्मक है। आकाश द्रव्य में अवगाहन असाधारण धर्म है, सत्त्व आदि साधारण धर्म हैं, अमूर्त्तत्व आदि साधारण-असाधारण—दोनों धर्म हैं, अत आकाश भी अनेकान्तात्मक है। कालद्रव्य में वर्तना असाधारण गुण है, सत्त्व आदि साधारण धर्म हैं और अमूर्त्तत्व आदि साधारण-असाधारण—दोनों धर्म हैं, अतः कालद्रव्य भी अनेकान्तात्मक है। ऐसा कथन करना स्याद्वाद है, क्योंकि वह वस्तु का अनेकधर्मात्मक कथन करता है। और वस्तु का विकल अर्थात् विवक्षित एकदेश का कथन करना नय है।

पहले ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहा था, यहाँ उपचार से वचन को भी नय कहा है, क्योकि नय का कारण वचन भी नय कहा जाता है। जैसे श्रुतज्ञान में कारण वचन को श्रुत कहा जाता है। अत जैसे ज्ञान रूप श्रुत के दो उपयोग होते हैं—स्याद्वाद और नय। वैसे ही वचन रूप श्रुत के भी दो व्यापार हैं। एक को स्याद्वाद या प्रमाण रूप वचन कहते है और दूसरे को नयरूप वचन कहते हैं। जिसके द्वारा अनेकधर्मात्मक वस्तु का कथन किया जाता है वह प्रमाण वाक्य है, जैसे स्यात् (कथञ्चित्) जीव ही है। इस वाक्य में 'स्यात्' पद का प्रयोग होने से जीव सत् ही है, या असत् ही है, या द्रव्य रूप ही है, या पर्यायरूप ही है। इस प्रकार के एकान्तवादों का निरास होता है और जीव शब्द से स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव से विशिष्ट जीव कहा जाता है। जीव स्यात् है ही (अस्त्येव), यह नय वाक्य है। इसमें जो 'है' के साथ 'स्यात्' शब्द लगा है वह एकान्त को कहता है, क्योंकि जीव का अस्तित्व एकधर्म है। इसमें सात भङ्गों का प्रयोग होता है—जीव स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव की अपेक्षा कथञ्चित् है ही; जीव परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परभाव की अपेक्षा कथञ्चित् नही ही है। जीव क्रम से स्वद्रव्यादि चतुष्टय और परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा कथञ्चित् अस्ति और कथञ्चित् नास्ति ही है। एक साथ स्वद्रव्यादि चतुष्टय और परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा जीव कथञ्चित् अवक्तव्य ही है, क्योंकि ऐसा कोई एक शब्द नहीं जिसके द्वारा दोनों धर्मों को एक साथ कहा जा सके। स्वद्रव्यादि चतुष्टय की विवक्षा के साथ युगपत्

स्व और परद्रव्यादि चतुष्टय की विवक्षा होने पर जीव कथञ्चित् अस्ति अवक्तव्य ही है। परद्रव्यादि चतुष्टय की विवक्षा के साथ युगपत् स्व और पर द्रव्यादि चतुष्टय की विवक्षा होने पर जीव कथञ्चित् नास्ति अवक्तव्य ही है। तथा क्रम से स्व और परद्रव्यादि चतुष्टय की विवक्षा के साथ युगपत् स्व और परद्रव्यादि चतुष्टय की विवक्षा होने पर जीव कथञ्चित् अस्तिनास्ति अवक्तव्य ही है। इस तरह यह सप्तभङ्गी भी प्रमाण सप्तभङ्गी और नय सप्तभङ्गी रूप होती है ॥६२॥

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि लौकिक जन तो वाक्यों के साथ '**स्यात्**' पद का प्रयोग नही करते, सर्वत्र उसके बिना ही वचन व्यवहार देखा जाता है। शास्त्र में भी '**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**' इत्यादि वाक्यों में 'स्यात्' पद का प्रयोग नही देखा जाता है, अत '**स्यात्**' पद के प्रयोग का नियम उचित नही है। इस आशङ्का का समाधान करते हैं—

अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र स्यात्कारोऽर्थात्प्रतीयते ।
विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र कुशलश्चेत्प्रयोजकः ॥६३॥

अर्थ—यदि वक्ता कुशल हो तो विधिरूप वाक्य में, निषेधरूप वाक्य में तथा अनुवाद आदि मे सर्वत्र प्रयोग नही करने पर भी सामर्थ्य से ही '**स्यात्**' पद और '**एवकार**' पद की प्रतीति स्वत हो जाती है ॥६३॥

विशेषार्थ—जो वादी किसी वाक्य मे '**स्यात्**' पद का प्रयोग पसन्द नही करते हैं, उन्हें सर्वथा एकान्त को मानना होगा। और वैसी मान्यता प्रमाण विरुद्ध है। इसी तरह '**एवकार**' अभाव मे भी सर्वथा एकान्त को मानना होगा, क्योंकि उस स्थिति मे अनेकान्त का निराकरण अवश्यम्भावी है। जैसे 'ज्ञानदर्शनोपयोग लक्षणवाला जीव ही है' इस वाक्य से यह सिद्ध होता है कि ज्ञानदर्शनोपयोग जीव का ही लक्षण है। इसमें से यदि 'ही' को हटा लिया जाता है तो अजीव भी ज्ञानदर्शनोपयोग लक्षण वाला हो जायेगा और ऐसा होने पर बाह्य अर्थ की व्यवस्था ही लुप्त हो जायेगी। उसके लोप होने पर प्रमाण-प्रमेय आदि समस्त व्यवहार समाप्त हो जायेगा। इसी तरह 'जीव ज्ञानदर्शनोपयोग लक्षण वाला ही है' इस वाक्य में से 'ही' को हटा लेने पर जीव का लक्षण रूपादि भी हो जायेगा और तब जीव और अजीव का भेद ही समाप्त हो जायेगा। इसी तरह '**स्यात्**' पद के बिना इष्ट की विधि और अनिष्ट का निषेध नही किया जा

सकता है। जैसे 'अर्जुन ही धनुर्धारी है' ऐसा कहने पर सर्वत्र सर्वदा सभी अन्य पुरुषों में धनुर्धरत्व का अभाव प्रतीत होता है। किन्तु यह तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। यदि कहा जाता है कि जिस प्रकार का धनुर्धारिपना अर्जुन में है वैसा दूसरों में नहीं है, यही बतलाना इष्ट है, धनुर्धारिपने का निषेध करना इष्ट नही है, तो ऐसा अर्थ 'स्यात्' पद के प्रयोग से ही सम्भव है। अतः 'स्यात्' पद का साक्षात् प्रयोग न होने पर भी सर्वत्र वाक्यों में उसकी प्रतीति हो ही जाती है ॥६३ ॥

बौद्ध का कहना है कि सभी शब्द विवक्षा को ही कहते हैं, अर्थ को नही कहते। इसका परिहार करते हैं—

वर्णाः पदानि वाक्यानि प्राहुरर्थानवाञ्छितान् ।
वाञ्छितांश्च क्वचिन्नेति प्रसिद्धिरियमीदृशी ॥६४ ॥
स्वेच्छया तामतिक्रम्य वदतामेव युज्यते ।
वक्त्रभिप्रेतमात्रस्य सूचकं वचनं त्विति ॥६५ ॥

अर्थ—वर्ण, पद और वाक्य अवाञ्छित अर्थ को कहते हैं और किन्ही मन्दबुद्धि पुरुषों में वाञ्छित अर्थ को भी नही कहते हैं, ऐसी सर्वजन प्रसिद्ध प्रतीति है। स्वेच्छा से उस प्रतीति का उल्लघन करके कहने वाले **बौद्धो** को ही यह कहना शोभा देता है कि वचन तो वक्ता के अभिप्राय मात्र का सूचक है ॥६४-६५ ॥

विशेषार्थ—'क' 'ख' आदि अक्षरों को **वर्ण** कहते हैं। परस्पर सापेक्ष वर्णों के निरपेक्ष समुदाय को **पद** कहते हैं, जैसे 'गाय' आदि। और परस्पर सापेक्ष पदो के निरपेक्ष समुदाय को **वाक्य** कहते हैं। जैसे 'गाय लाओ'। ये वर्ण, पद और वाक्य अपने-अपने अर्थ को कहते हैं। केवल वक्ता के अभिप्राय को नही कहते, अपितु वक्ता के अभिप्राय से भिन्न बाह्य घटादि अर्थ को कहते हैं। यदि ऐसा न हो तो सत्य और झूँठ की व्यवस्था नही बन सकती। जिस शब्द को सुनकर जिस अर्थ की प्रतीति, प्राप्ति और जिसमें प्रवृत्ति होती है, वही उसका अर्थ होता है। जैसे पानी शब्द को सुनकर पानी अर्थ का बोध होता है। उसी के पास मनुष्य जाता है और पीकर अपनी प्यास बुझाता है। यदि कहोगे कि शब्द अर्थ के व्यभिचारी देखे जाते हैं, क्योंकि अर्थ के अभाव में भी शब्द की प्रवृत्ति देखी जाती है, अत शब्द वक्ता के अभिप्राय के विरुद्ध भी कहते देखे जाते हैं, क्योंकि सोते समय भी वचन का व्यापार देखा जाता है। सोते

समय मनुष्य बिना अभिप्राय के कुछ-कुछ बोलता है । कभी-कभी नही चाहते हुए भी वक्ता के मुख से अपशब्द निकल जाते हैं । मन्दबुद्धि बहुत चाहता है कि मैं शास्त्र का प्रवक्ता बनूँ , किन्तु उसके चाहने पर भी वह प्रवचन करने में असमर्थ होता है । चूंकि शब्द अर्थ और अभिप्राय— इन दोनों के विषय में व्यभिचारी पाया जाता है, इसलिये शब्द किसी का भी वाचक नहीं है, ऐसा कहना तो अलौकिक बुद्धि का ही परिचायक है । यह बात लोक सम्मत नही हैं । लोक तो अर्थ की प्राप्ति होने पर शब्द को प्रमाण मानता है । वैसा न होने पर शब्द को अप्रमाण मानता है । यदि शब्द किसी का भी वाचक नही है, अर्थात् यदि शब्द कुछ भी नही कहते हैं तो शब्दों से घटादि अर्थों की प्रतीति स्वप्न में भी नहीं हो सकती है । और ऐसी स्थिति में जो शब्दों को अर्थ की प्राप्ति और अप्राप्ति होने पर सच्चा और झूँठा माना जाता है वह भी नही बन सकेगा । अर्थात् यदि शब्द का अर्थ केवल अभिप्राय मात्र माना जाता है तो लोक में शब्दों के सच्चे और झूँठे होने की जो व्यवस्था है वह नही बन सकेगी ।

शायद कहा जाये कि यद्यपि शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है, किन्तु विचार करने पर वह ठीक नही लगती । क्योंकि शब्द का बाह्य अर्थ के साथ सम्बन्ध न होने से शब्द अर्थ का बोधक नही हो सकता है । इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार के शब्द का सकेत जिस प्रकार के अर्थ में किया गया है, योग्यता लक्षण सम्बन्ध के वश से देशान्तर और कालान्तर में भी उसी प्रकार का शब्द उसी प्रकार के अर्थ का वाचक होता है, इसमें कोई भी बाधक नही है । अत शब्द से होने वाली सामान्य-विशेषात्मक अर्थ की प्रतीति का उल्लंघन करके स्वेच्छा से प्रमाण और प्रमेय के स्वरूप को मानने वाले बौद्ध ही ऐसा कह सकते हैं कि शब्द वक्ता के अभिप्राय मात्र का सूचक है । वस्तुतः यह यथार्थ नहीं है ॥६४-६५ ॥

आगे ग्रन्थकार नय के भेद कहते हैं—

श्रुतभेदाः नयाः सप्त नैगमादिप्रभेदतः ।
द्रव्यपर्यायमूलास्ते द्रव्यमेकान्वयानुगम् ॥६६ ॥

निश्चयात्मकमन्योऽपि व्यतिरेकपृथक्त्वगः ।
निश्चयव्यवहारौ तु द्रव्यपर्यायमाश्रितौ ॥६७ ॥

अर्थ— श्रुतज्ञान के भेद नय हैं । वे नय नैगम आदि के भेद से सात हैं । उनका मूल द्रव्य और पर्याय है । एकत्व और अन्वय का अनुगामी द्रव्य है, वह निश्चय स्वरूप है । पर्याय भी निश्चयात्मक है, वह व्यतिरेक और पृथक्त्व की अनुगामी है । निश्चय और व्यवहारनय द्रव्य और पर्याय के आश्रित हैं ॥६६-६७ ॥

विशेषार्थ— प्रमाण अनेक धर्म-धर्मि स्वभाव समस्त वस्तु को ग्रहण करता है । इसी से प्रमाण को सकलादेशी और नय को विकलादेशी कहते हैं । शायद कोई कहे कि स्व और अर्थ के निश्चायक ज्ञान को प्रमाण कहते हैं, अत· नय भी प्रमाण ही है । किन्तु ऐसा कहना ठीक नही है, क्योकि नय स्व और अर्थ के एकदेश का निश्चायक होता है । स्वार्थ का एकदेश न तो वस्तु ही है और न अवस्तु ही है, किन्तु वस्तु का अश है । जैसे समुद्र का एक अश न तो समुद्र ही है और न असमुद्र ही है, किन्तु समुद्रांश है । यदि समुद्र के एक अश को समुद्र कहा जायेगा तो शेष समुद्राश या तो असमुद्र हो जायेगे, या फिर एक एक अश को समुद्र कहने से बहुत से समुद्र हो जायेंगे । यदि समुद्र के अश को असमुद्र कहा जायेगा तो समुद्र के शेष अंश भी असमुद्र कहलायेगे और ऐसी स्थिति मे कही भी समुद्र का व्यवहार नही हो सकेगा । अत समुद्र के अश को समुद्राश कहना ही उचित है । उसी तरह नय का विषय स्व और अर्थ का एक देश न तो वस्तु है, क्योकि एक देश को ही वस्तु कहने से स्वार्थ के अन्य देश अवस्तु कहलायेगे । यदि उन्हे भी वस्तु कहा जायेगा तो वस्तु के प्रत्येक देश के वस्तु होने से जितने देश होगे उतनी ही वस्तुएँ हो जायेगी और इस तरह वस्तु बहुत्व का प्रसग आ जायेगा । वस्तु का एक देश अवस्तु भी नही है, क्योकि एक देश को अवस्तु कहने से वस्तु के शेष देश भी अवस्तु कहलायेंगे और ऐसी स्थिति मे कही भी वस्तु की व्यवस्था नही हो सकेगी । अत· वस्तु का एक देश वस्तु-अंश ही है । उस वस्तु-अश को जानने वाला ज्ञान नय है ।

शङ्का— जैसे वस्तु का अश न वस्तु है और न अवस्तु है, किन्तु वस्तु-अश है । वैसे ही अशी न वस्तु है और न अवस्तु है वह तो केवल अशी ही है । वस्तु तो अश और अशी के समूह को कहते हैं । अत· जैसे अश को जानने वाला ज्ञान नय है, वैसे ही अशी को जानने वाला ज्ञान भी नय होना चाहिये, यदि अशी को जानने वाला ज्ञान प्रमाण है तो अश को जानने वाला ज्ञान भी प्रमाण होना चाहिये और वैसी स्थिति मे नय प्रमाण से भिन्न सिद्ध नही होता है ?

समाधान— समस्त अंशों को गौण करके केवल अंशी में प्रवृत्त होनेवाला ज्ञान नय ही है, उसे ही द्रव्यार्थिक कहते हैं। और समस्त अंशों की प्रधानता को लिये हुए अंशी में प्रवृत्त होनेवाला ज्ञान प्रमाण है। अतः प्रमाण से नय भिन्न ही है।

शङ्का— यदि नय प्रमाण से भिन्न है तो वह अप्रमाण ठहरता है, क्योंकि जो प्रमाण नही है वह अप्रमाण है और जो अप्रमाण नहीं है वह प्रमाण है। एक साथ किसी की प्रमाणता और अप्रमाणता का निषेध नहीं किया जा सकता है?

समाधान— प्रमाण और अप्रमाण से भिन्न भी एक तीसरा मार्ग है वह है प्रमाण का एकदेश। प्रमाण का एकदेश प्रमाण नही है, क्योंकि उसे हम प्रमाण से सर्वथा अभिन्न नही मानते, और न वह अप्रमाण ही है, क्योंकि उसे हम प्रमाण से सर्वथा भिन्न भी नही मानते हैं। देश और देशी में कथञ्चित् भेद होता है। शायद कहा जाये कि जिस अपेक्षा से नय प्रमाण से अभिन्न है, उस अपेक्षा से वह प्रमाण ठहरता है और जिस अपेक्षा से नय प्रमाण से भिन्न है, उस अपेक्षा से वह अप्रमाण ठहरता है तो यह हमें इष्ट ही है। एक देश से नय को प्रमाणपना और एकदेश से अप्रमाणपना इष्ट ही है। सर्वदेश से ही नय के प्रमाण और अप्रमाण होने का निषेध किया जाता है, जैसे समुद्र के एकदेश के समुद्र होने या असमुद्र होने का निषेध किया जाता है।

अत नय प्रमाण का ही भेद है। किन्तु किस प्रमाण का भेद है यह विचारणीय है। मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान से गृहीत वस्तु के अश में तो नयों की प्रवृत्ति नही होती है, क्योंकि नयो का विषय समस्त देश और समस्त कालवर्ती पदार्थ हैं, किन्तु मतिज्ञान आदि की प्रवृत्ति समस्त देश और समस्त कालवर्ती पदार्थों में नही होती है। मनोजन्य मतिज्ञान भी सबको विषय करने में असमर्थ है। केवलज्ञान त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों और उनकी समस्त पर्यायों को स्पष्ट जानता है, अत नयो का मूल केवलज्ञान भी नही है, क्योंकि नय तो परोक्ष रूप से ही जानते हैं। स्पष्ट रूप से जानने वाले प्रमाण के भेद अस्पष्ट नहीं हो सकते। शेष बचता है श्रुतज्ञान, अत नय उसी के भेद हैं। क्योंकि श्रुतज्ञान स्वार्थ भी है और परार्थ भी है। ज्ञानरूप श्रुत स्वार्थ होता है और वचनरूप श्रुत परार्थ होता है। अन्य सब ज्ञान स्वार्थ ही होते हैं। नय भी ज्ञानात्मक भी है और वचनात्मक भी। इस तरह श्रुतज्ञान के विषयभूत अर्थ के अश को जो जानता है वह नय है। वे अश हैं— द्रव्य और पर्याय। अत नय के मूल भेद

भी दो ही हैं— द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक । द्रव्यार्थिक का विषय द्रव्यमात्र है और पर्यायार्थिक का विषय पर्यायमात्र है । द्रव्य एकत्वरूप और अन्वयी होता है । एक ही वस्तु मे कालक्रम से होने वाली पर्यायों मे अनुस्यूत एकत्व द्रव्य का स्वरूप है । जैसे मिट्टी में कालक्रम से होने वाली स्थास, कोश, कुसूल आदि पर्यायो मे मिट्टीपना अनुस्यूत रहता है, वैसे ही प्रत्येक वस्तु में होने वाली पर्यायो में एकत्व अनुस्यूत रहता है । तथा द्रव्यत्व अन्य द्रव्यों मे भी पाया जाता है, अत· वह अन्वयी होता है, जैसे घटत्व सब घटों मे पाया जाता है । इन दो विशेषणों से जहाँ एक ओर एक ही द्रव्य में होने वाली पर्यायो को सर्वथा पृथक् नही माना है और इस तरह भेदैकान्त का निषेध किया है, वहाँ सब द्रव्यो के एकत्व का भी निरास किया है । अर्थात् एकत्व से जहाँ द्रव्य की अखण्डता सिद्ध की है, वहाँ अन्वय से द्रव्यों की अनेकता भी सिद्ध की है । प्रत्येक द्रव्य अपने में एक स्वतन्त्र और अखण्डरूप है । पर्यायें द्रव्य से विपरीत है, जो व्यतिरेक और पृथक्त्व को लिये हुए है ।

आशय यह है कि एक ही द्रव्य मे कालक्रम से होने वाली पर्याये परस्पर मे एक दूसरे से भिन्न होती है । एक ही पुरुष मे होने वाली बालपर्याय युवापर्याय से भिन्न है । इसी तरह प्रत्येक क्षणवर्ती पर्याय अपने से भिन्न क्षणवर्ती पर्याय से भिन्न होती है । जो बालपर्याय है वह युवापर्याय नही है, जो युवापर्याय है वह वृद्धत्वपर्याय नही है । इसी को व्यतिरेक कहते है । तथा भिन्न-भिन्न द्रव्यो की पर्यायो में जो भेद है, उसे पृथक्त्व कहते है । इस तरह जहाँ द्रव्य एकत्व और अन्वयरूप होता है वहाँ पर्याय पृथक्त्व और व्यतिरेकरूप होती है । पहला अभेदरूप है तो दूसरा भेदरूप है । अभेदरूप का ग्राहक द्रव्यार्थिकनय है और भेदरूप का ग्राहक पर्यायार्थिकनय है । अध्यात्मशास्त्र मे द्रव्यार्थिक को निश्चयनय और पर्यायार्थिक को व्यवहारनय भी कहते है । जैसे निश्चयनय से जीव कर्मरहित है और व्यवहारनय से कर्मसहित है । निश्चयनय स्वाश्रित वस्तु स्वरूप को कहता है और व्यवहारनय पराश्रित वस्तु स्वरूप को कहता है । जीव का शुद्ध स्वरूप कर्मनिर्मुक्त है और अशुद्धस्वरूप कर्मबद्ध है । पहला निश्चयनय का विषय है, दूसरा व्यवहारनय का विषय है । द्रव्य की तरह पर्याये भी शुद्ध और अशुद्ध होती हैं । ससारीजीव की व्यवहार पर्याये क्रोधादि है, निश्चय पर्याय शुद्ध जीव की मुक्तावस्था है । साराश यह है कि चेतन या अचेतन द्रव्य का जो स्वभाव कभी भी नष्ट नही होता है, उसका अवलम्बन लेने वाला व्यवहारनय है । उन्हें ही आगमिक शब्दो मे द्रव्यार्थिक

और पर्यायार्थिक कहते हैं। द्रव्यार्थिकनय के चार भेद हैं—ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढ़नय और एवम्भूतनय। इस तरह नय सात हैं। वैसे तो जितने वचनमार्ग है, उतने ही नय हैं ॥६६-६७॥

आगे नैगमनय का लक्षण कहते हैं—

गुणप्रधानभावेन धर्मयोरेकधर्मिणि ।
विवक्षा नैगमोऽत्यन्तभेदोक्तिः स्यात्तदाकृतिः ॥६८॥

अर्थ—एक द्रव्य में दो धर्मों को गौणता और मुख्यता से कहने का जो अभिप्राय है वह **नैगमनय** है और उनमें अत्यन्त भेद को कहने का जो अभिप्राय है, वह **नैगमाभास** है ॥६८॥

विशेषार्थ—'**नैक गमो नैगमः**' यह नैगम शब्द की व्युत्पत्ति है। जो धर्म और धर्मी मे से एक को नही कहता है, अपितु गौणता और मुख्यता से दोनों को कहता है, वह **नैगमनय** है। जैसे जीव सत् है, अमूर्त्तिक है, सूक्ष्म है, कर्त्ता है, ज्ञाता और द्रष्टा है, असख्यात प्रदेशवाला है, भोक्ता है, परिणामी नित्य है, पृथिवी आदि भूतों से विलक्षण है, इस प्रकार प्रधान रूप से जीव के स्वरूप का कथन करने पर सुख आदि धर्म गौण हो जाते है। तथा सुख आह्लाद रूप होता है, दु ख उससे विपरीत होता है, स्व और अर्थ को ग्रहण करनेवाला ज्ञान होता है। इस प्रकार मुख्यरूप से सुख आदि के स्वरूप का कथन करने पर आत्मा गौण हो जाता है, यह नैगमनय की दृष्टि है, जो प्रमाण से भिन्न है। प्रमाण तो प्रधान रूप से ही दोनो को ग्रहण करता है, एक को मुख्य और एक को गौण नही करता। इसी तरह सग्रह और व्यवहार से भी नैगमनय भिन्न है, क्योंकि ये नय गुण या गुणी मे से एक को ही ग्रहण करते हैं। जबकि नैगमनय में गौणता और मुख्यता से गुण और गुणी या धर्म और धर्मी की विवक्षा होती है तथा गुण और गुणी में, अवयव और अवयवी में, क्रिया और कारक आदि मे अत्यन्त भेद का अभिप्राय नैगमाभास है। क्योंकि धर्म और धर्मी आदि में तादात्म्य सम्बन्ध होते हुए भी उसकी विवक्षा नही करता। साराश यह है कि धर्म और धर्मी तो उपलक्षण रूप है, अत उनसे अवयव-अवयवी, क्रिया-कारक, जाति-जातिमान् आदि का भी ग्रहण होता है। इनमें से एक की गौण रूप से और दूसरे की प्रधानरूप से जो विवक्षा है वह नैगमनय है और उनमे अत्यन्त भेद की विवक्षा **नैगमाभास** है ॥६८॥

आगे संग्रह और सग्रहाभास का स्वरूप कहते हैं—

सदभेदात् समस्तैक्यसंग्रहात् संग्रहो नयः ।

दुर्नयो ब्रह्मवादः स्यात् तत्स्वरूपानवाप्तितः ॥६९ ॥

अर्थ—सत् के अभेद से सबका एकरूप से सग्रह करनेवाला संग्रहनय है। ब्रह्मवाद दुर्नय है, क्योंकि प्रमाण से उसका स्वरूप सिद्ध नही होता है ॥६९ ॥

विशेषार्थ—ससार में जो कुछ है वह सत् अवश्य है। सत् से भिन्न कुछ भी नही है। अतः जीव-अजीव आदि समस्त भेदों को एकरूप से ग्रहण करने वाला संग्रहनय है। वेदान्तियों का ब्रह्मवाद भी समस्त जगत् को ब्रह्म रूप मानता है, किन्तु वह भेद का निराकरण करता है, अत वह संग्रहाभास है, क्योकि सर्वथा अभेद प्रमाण-विरुद्ध है ॥६९ ॥

आगे व्यवहारनय का स्वरूप कहते हैं—

व्यवहारानुकूल्यात्तु प्रमाणानां प्रमाणता ।

नान्यथा बाध्यमानानां ज्ञानानां तत्प्रसङ्गतः ॥७० ॥

अर्थ—व्यवहार के अनुकूल होने से ही प्रमाणों की प्रमाणता स्थापित है, अन्यथा नही। यदि ऐसा न हो तो जो संशय आदि ज्ञान बाध्यमान होते हैं (जिनकी प्रमाणता में बाधा आती है) वे भी प्रमाण हो जायेंगे ॥७० ॥

विशेषार्थ—संग्रहनय के द्वारा एकरूप से सगृहीत पदार्थों के विधिपूर्वक भेद-प्रभेद करने को व्यवहारनय कहते हैं। जैसे द्रव्य पद से जीव-अजीव आदि का संग्रह किया गया है, किन्तु बिना भेद किये व्यवहार नहीं चलता है। अत द्रव्य के दो भेद किये जाते हैं—जीव और अजीव। सग्रहनय के द्वारा आक्षिप्त जीव और अजीव से भी व्यवहार नही चलता है, अत जीव के नारकी, देव और मनुष्य आदि तथा अजीव के पुद्गल, काल और आकाश आदि भेद किये जाते हैं। इस तरह व्यवहारनय के द्वारा तब तक भेद किये जाते हैं जब तक सम्भव होते है। लोक-व्यवहार व्यवहारनय के ही अधीन है। यहाँ तक कि प्रमाण की प्रमाणता भी व्यवहार की अनुकूलता से ही होती है। जो व्यवहार के अनुकूल नही होता है, उसे अप्रमाण कहा जाता है। सशय ज्ञान, विपरीत ज्ञान और अनध्यवसायरूप ज्ञान व्यवहारोपयोगी नही होते है, इसी से उन्हें

अप्रमाण कहा जाता है। सीप को चाँदी जानने से व्यवहार नहीं चलता है। अतः व्यवहारनय की उपयोगिता निर्विवाद है। ज्ञानाद्वैत या शून्याद्वैत आदि के प्रतिपादक वचन व्यवहाराभास हैं, क्योंकि वे व्यवहार के विरोधी हैं। प्रमाण और प्रमेय के सद्भाव मे ही व्यवहार चल सकता है और अद्वैतवाद में प्रमाण-प्रमेय का सद्भाव नही बनता है ॥७० ॥

आगे ऋजुसूत्रनय का स्वरूप कहते हैं—

भेदं प्राधान्यतोऽन्विच्छन् ऋजुसूत्रनयो मतः ।
सर्वथैकत्वविक्षेपी तदाभासस्त्वलौकिकः ॥७१ ॥

अर्थ—प्रधानरूप से पर्याय को मानने वाला ऋजुसूत्रनय कहा गया है। जो एकत्व का अर्थात् द्रव्य का सर्वथा निराकरण करता है वह ऋजुसूत्राभास है, जो लोक विरुद्ध है ॥७१ ॥

विशेषार्थ—ऋजु का अर्थ है सीधा-सरल। अर्थात् अतीत-अनागत पर्यायों को छोड़कर जो केवल वर्तमानपर्याय को ही मुख्य रूप से विषय करता है वह ऋजुसूत्रनय है। मुख्यरूप से पर्याय को विषय करने से यह ध्वनित होता है कि ऋजुसूत्रनय गौणरूप से द्रव्य की भी अपेक्षा करता है। इसी से ऋजुसूत्रनय के दो भेद भी पाये जाते हैं—एक स्थूल ऋजुसूत्रनय और दूसरा सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय। स्थूल ऋजुसूत्रनय का विषय क्षणिक अर्थ पर्याय है। किन्तु जो द्रव्य का सर्वथा निषेध करके केवल क्षणवर्ती पर्याय को ही सत् मानता है वह **ऋजुसूत्राभास** है, जैसे क्षणिकवादी बौद्धदर्शन। **बौद्ध** मानता है कि समस्त बाह्य और आन्तर पदार्थ क्षणध्वंसि ही हैं। यदि उन्हें दो क्षणवर्ती माना जायेगा तो उनका कभी विनाश ही नही होगा। इस प्रकार वह (बौद्ध) द्रव्य को नही मानता है। किन्तु प्रत्यभिज्ञान से यह सिद्ध होता है कि पूर्वोत्तर परिणामवर्ती एक द्रव्य अवश्य है, क्योंकि उसके होते हुए ही प्रतिक्षण विनाश सम्भव है। आशय यह है कि प्रतिक्षण विनाशशील होते हुए भी वस्तु में एकरूपता रहती है, उसी के कारण हम 'यह वही है' ऐसा जानते हैं। उस का अपलाप करने से स्वसंतान और परसन्तान की व्यवस्था नही बन सकती है, क्योंकि सदृश और विसदृश कार्य-कारणभाव का अत्यन्ताभाव हो जायेगा। और इसका कारण यह है कि परिणामी द्रव्य का लोप कर देने से सदृश और विसदृश परिणाम का अभाव हो जायेगा। ऐसी अवस्था में शुभ-अशुभ का अनुष्ठान,

उसका फलपुण्य-पाप का बन्ध आदि न बनने से ससार और मोक्ष की व्यवस्था भी नहीं बन सकेगी । यदि इन सबको काल्पनिक माना जायेगा तो कल्पना मिथ्या होती है, अत ये सब मिथ्या ठहरेंगे, उसके बिना यह सब सम्भव नही है ॥७१ ॥

आगे सात नयों में अर्थनय और शब्दनय का भेद करते हैं—

चत्वारोऽर्थनया ह्येते जीवाद्यर्थव्यपाश्रयात् ।
त्रयः शब्दनयाः सत्यपदविद्यां समाश्रिताः ॥७२ ॥

अर्थ—जीव-अजीव आदि अर्थों का अवलम्बन लेने से ये चार अर्थनय है और सत्यभूत काल, कारक, लिंग आदि भेद के वाचक पदों की विद्या अर्थात् व्याकरणशास्त्र का अवलम्बन लेने वाले शेष तीन नय शब्दनय हैं ॥७२ ॥

विशेषार्थ—नैगम, सग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्रनय जीव-अजीव आदि पदार्थों का अवलम्बन लेकर ही प्रवृत्त होते है, अत अर्थ प्रधान होने से उन्हे **अर्थनय** कहते है । शेष तीन नय शब्द की प्रधानता से अर्थ को ग्रहण करते है, अत उन्हे **शब्दनय** कहते हैं । वे तीन नय है—शब्दनय, समभिरूढ़नय और एवम्भूतनय । काल, कारक, लिग आदि के भेद से अर्थ में भेद करने वाला **शब्दनय** है । 'हुआ', 'होता है', 'होगा' ये कालभेद के उदाहरण हैं । 'करना है', 'किया जाता है' ये कारक-भेद के उदाहरण है । देवदत्त, देवदत्तायें लिगभेद के उदाहरण हैं । शब्दनय का अभिप्राय है कि ये काल-कारक आदि भी कथञ्चित् वस्तुस्वभाव के भेदक होते हैं, अत यह नय इनके भेद से अर्थ को भेदरूप ग्रहण करता है । पर्यायभेद से अर्थभेद मानने वाला **समभिरूढ़नय** है । जैसे स्वर्गलोक के स्वामी को इन्द्र, शक्र और पुरन्दर कहते हैं । यद्यपि इन शब्दो में लिंगादि का भेद नही है, किन्तु पर्यायभेद है । इन्दन से इन्द्र, शक्तिशाली होने से शक्र और नगरों का विदारण करने से पुरन्दर कहा जाता है । अत. यह नय इन्द्र को तीन रूप से ग्रहण करता है । क्रिया के भेद से अर्थ को ग्रहण करने वाला **एवम्भूतनय** है । शब्द की व्युत्पत्ति क्रिया के आश्रय से की जाती है । उसके अभाव में शब्द उस अर्थ को नही कह सकता है । अत- जो परम ऐश्वर्य का अनुभवन करता है उसे इन्द्र कहते हैं । जिस समय वह परम ऐश्वर्य का अनुभवन करता है उसी समय इन्द्र है, अन्य समय में नही । इसी तरह शकन क्रिया के समय ही शक्र है । पुरो के दारण के समय

ही पुरन्दर है। क्योंकि पदार्थ जिस क्रिया रूप परिणत होता है उस क्रिया निमित्तक व्युत्पत्ति वाले शब्दों के द्वारा उसी काल में कहा जाता है, अन्यकाल में नही। यह एवम्भूतनय का अभिप्राय है। अतः क्रिया भेद भी पदार्थों में भेद डालता है ॥७२ ॥

॥तृतीय प्रवचनप्रवेश के अन्तर्गत षष्ठ प्रवचनपरिच्छेद समाप्त ॥

तृतीय प्रवचनप्रवेश : सप्तम निक्षेपपरिच्छेद

शास्त्र रचना और उसके अध्ययन का अन्तिम फल बतलाते हैं—

श्रुतादर्थमनेकान्तमधिगम्याभिसन्धिभिः ।
परीक्ष्य तांस्तान् तद्धर्माननेकान् व्यावहारिकान् ॥७३ ॥
नयानुगतनिक्षेपैरुपायैर्भेदवेदने ।
विरचय्यार्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान् श्रुतार्पितान् ॥७४ ॥
अनुयुज्यानुयोगैश्च निर्देशादिभिदां गतैः ।
द्रव्याणि जीवादीन्यात्मा विवृद्धाभिनिवेशनः ॥७५ ॥
जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानतत्त्ववित् ।
तपो निर्जीर्णकर्माऽयं विमुक्तः सुखमृच्छति ॥७६ ॥

अर्थ—श्रुतज्ञान के द्वारा अनेकान्तात्मक वस्तु तत्त्व को जानकर उसके व्यवहारोपयोगी उन-उन अनेक धर्मों की नयों के द्वारा परीक्षा करे । नाम, स्थापना आदि स्वभाव से भेदरूप जीवादि द्रव्यों को जानने में उपायभूत नयों के अनुगामी निक्षेपों के द्वारा तथा श्रुत के द्वारा विवक्षित अर्थरूप, वचनरूप और प्रत्यक्षरूप भेदों की विशेष रूप से रचना करे । निर्देश, स्वामित्व आदि भेदवाले अनुयोगों के द्वारा जीवादि द्रव्यों को जाने । ऐसा करने से आत्मा का सम्यग्दर्शन रूपी अभिनिवेश बढ़ जाता है, वह दृढ़ क्षायिकसम्यग्दृष्टि हो जाता है । इस प्रकार जीवस्थान, गुणस्थान और मार्गणास्थान के रहस्य को जानकर तथा तप के द्वारा समस्त कर्मों की निर्जरा करके यह आत्मा मुक्त होकर शाश्वत सुख को प्राप्त करता है ॥७३-७६ ॥

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र— इन तीनो का मेल ही मोक्ष का एक मात्र मार्ग है । अत मुमुक्षु को इनकी आराधना करना आवश्यक है । किन्तु आराधनाएँ चार बतलाई गई हैं—दर्शनाराधना, ज्ञानाराधना, चारित्राराधना और तपाराधना । इसका कारण यह है कि तप का अन्तर्भाव चारित्र में हो जाता है, क्योंकि चारित्र ही कर्मनिर्जरा का कारण होने से तपरूप कहा गया है । वस्तुतः तप चारित्र से भिन्न नही है । बहिरङ्ग तप रत्नत्रय का साधन है और अन्तरङ्ग तप चारित्र का ही भेद है ।

इसलिये मोक्ष के कारणों में उसका अलग से निर्देश नहीं किया है। तथापि व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक शुक्लध्यान से ही समस्त कर्मों का क्षय होता है, अतः चारित्र के अन्तर्गत होते हुए भी तप आराधना का पृथक् निर्देश किया है। तप आराधना के बिना चारित्र की आराधना अधूरी ही होती है। इन चारों में सबसे प्रथम सम्यग्दर्शन की आराधना करनी चाहिये, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र नही होते हैं। ज्ञान और चारित्र तो सम्यग्दर्शन पूर्वक ही होते हैं। इसी से सभी शास्त्रकारों ने सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये ही पूरा प्रयत्न करने का निर्देश किया है। तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। तत्त्वार्थ का श्रद्धान ज्ञान पूर्वक ही होना चाहिये। तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्दर्शन को निसर्गज और अधिगमज कहा है। निसर्गज का मतलब 'बिना जाने' नही है। तत्त्वार्थ का ज्ञान तो दोनों ही प्रकार के सम्यग्दर्शनों में होता है। अन्तर केवल इतना है कि परोपदेश पूर्वक तत्त्वज्ञान होकर जो सम्यक्त्व प्राप्त होता है उसे अधिगमज कहते हैं और परोपदेश के बिना तत्त्वज्ञान होकर जो सम्यक्त्व होता है उसे निसर्गज कहते हैं। निसर्गज सम्यग्दर्शन में भी जो तत्त्वज्ञान होता है उसमें भी पूर्वजन्म की देशनालब्धि कारण होती है। देशनालब्धि के बिना सम्यक्त्व नही होता है। किन्तु वह साक्षात् कारण नही होती है, इसी से उसे निसर्गज कहा जाता है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होने पर ज्ञान की आराधना सतत करते रहना चाहिये। इसी से मोक्षमार्ग मे श्रुतज्ञान का बहुत महत्त्व है। और श्रुतज्ञान की प्राप्ति के लिये केवल श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम ही आवश्यक नहीं है, अपितु उसके साथ में गुरु का उपदेश भी आवश्यक है। आप्त के उपदेश के अभाव में न द्रव्यश्रुत सम्भव है और न भावश्रुत सम्भव है। आप्त के उपदेशरूप वचनात्मक द्वादशाङ्ग श्रुत को द्रव्यश्रुत कहते हैं और उसके अर्थज्ञान को भावश्रुत कहते हैं। गणधर देव को यह दोनों ही प्रकार का श्रुतज्ञान भगवान् अर्हन्तदेव की दिव्यध्वनि के प्रसाद से तथा अपने मति-श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। यहाँ चक्षु आदि इन्द्रियों से होने वाले मतिज्ञान पूर्वक जो श्रुत होता है, उसकी चर्चा नही है, किन्तु श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा होने वाले मतिज्ञान पूर्वक जो भावश्रुत होता है उसकी विवक्षा है। और वह आप्त के उपदेशपूर्वक ही होता है। उसी से गुरु-शिष्य के प्रवाह रूप से शास्त्रों का प्रवाह चलता है और उनसे सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसी से अकलङ्कदेव ने श्रुत का अभ्यास करके अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्व को जानने का सर्वप्रथम निर्देश किया है। अनेकान्त का सम्यक् परिज्ञान हुए बिना जैनतत्त्वज्ञान को

यथार्थ रीति से समझना अशक्य है और उसके समझे बिना जीवादि तत्त्वों के सम्यक् परिज्ञान पूर्वक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इसी से तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय में सात तत्त्वों को बतलाकर निक्षेपों का कथन किया है। निक्षेपों को जाने बिना अप्रकृत का निराकरण और प्रकृत का निर्धारण नही होता है। जो निश्चय या निर्णय में स्थापित करता है उसे निक्षेप कहते हैं। उसके चार भेद हैं— नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। जिसमें वैसा गुण नहीं है, फिर भी व्यवहार चलाने के लिये जो नामकरण किया जाता है उसे नाम निक्षेप कहते हैं। जैसे जिनेन्द्र भगवान् का कोई भी गुण न होते हुए भी लोग अपने पुत्र का नाम जिनेन्द्र रख लेते हैं। वह पुत्र नाम मात्र से जिनेन्द्र है। तदाकार या अतदाकार वस्तु में किसी की स्थापना करने को स्थापना निक्षेप कहते हैं। जैसे जिन भगवान् के समान आकारवाली मूर्ति में जिनेन्द्र की स्थापना करके उसकी पूजा करना। वह मूर्ति स्थापना निक्षेप की अपेक्षा जिनेन्द्र है। नाम और स्थापना मे अन्तर यह है कि यद्यपि स्थापना नामपूर्वक होती है, फिर भी स्थापना में जिसकी स्थापना की जाती है, उसी के अनुसार आदर आदि किया जाता है। नाम मे ऐसा नही किया जाता है। जो भविष्य में जैसा होने वाला है उसको वर्तमान में वैसा कहना द्रव्य निक्षेप है। जैसे भविष्य में जिन बनने वाले जीव को जिनेन्द्र कहना। और वर्तमान में जो जिस पर्याय से युक्त है उस को वैसा ही कहना भाव निक्षेप है। जैसे साक्षात् जिनेन्द्रदेव को जिनेन्द्र कहना। जैसे जिनेन्द्र का व्यवहार लोक में चार रूप में होता है, वैसे ही जीव-अजीव आदि का भी व्यवहार चार रूप से होता है। यथा— नाम जीव, स्थापना जीव, द्रव्य जीव और भाव जीव। इनमें से कहाँ किस जीव से प्रयोजन है यह जाने बिना जीवतत्त्व का यथार्थ परिज्ञान और व्यवहार सम्भव नहीं है। अत: जैन सिद्धान्त में निक्षेपों का बहुत महत्त्व है। प्राचीन आगम में तो निक्षेपपूर्वक ही प्रत्येक वस्तु का व्याख्यान करने की पद्धति थी। निक्षेपों का बोध हो जाने पर भी हमें जानने के मूल साधन प्रमाण और नयों का सम्यक् स्वरूप जानना आवश्यक है। प्रत्येक वस्तु को हम ज्ञान के द्वारा ही जानते हैं, अत: जैन सिद्धान्त में सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण माना है। जो जानता है वह ज्ञान है। आत्मा ही जानता है, अत: वही ज्ञान है। आत्मा से ज्ञान भिन्न नही है। जो प्रदेश आत्मा के हैं वही प्रदेश ज्ञान के हैं। भिन्न उन्हें कहते हैं जिनके प्रदेश भिन्न-भिन्न होते हैं। जैसे आत्मा और कर्मों में संयोग सम्बन्ध होने पर भी प्रदेश भेद है। अर्थात् आत्मा के प्रदेश जुदे हैं और कर्म के प्रदेश जुदे हैं। अतः दोनों दो भिन्न द्रव्य हैं। गुण और गुणी में प्रदेशभेद नहीं है, अत: वे

दोनों अभिन्न होते हैं। किन्तु अभिन्न होते हुए भी उनमें लक्षण आदि की अपेक्षा कथञ्चित् भेद भी होता है। तभी तो ऐसा कहा जाता है कि आत्मा ज्ञान के द्वारा जानता है। किन्तु ऐसा कहने पर भी आत्मा और ज्ञान में वस्तुरूप से भेद नहीं है, अतःज्ञान ही प्रमाण है। प्रमाण सकलवस्तु का ग्राहक होता है, किन्तु ज्ञाता वस्तु के एकदेश में भी वस्तु का व्यवहार अपने अभिप्राय के अनुसार करता है। ज्ञाता के इस अभिप्राय को नय कहते हैं। ये नय प्रमाण के ही भेद हैं। जैनतत्त्वज्ञान को समझने के लिये नयों का विशेष महत्त्व है। नय दृष्टि के बिना वस्तु-स्वरूप को समझा ही नही जा सकता है। जैसे जैन सिद्धान्त के अनुसार वस्तु अनेकान्तात्मक है। वह नित्य भी है और अनित्य भी है, एक भी है और अनेक भी है। अब यदि कोई वस्तु को नित्य कहता है और दूसरा अनित्य कहता है तो नय दृष्टि का जानकार धोखे में नही पड़ सकता है। वह जानता है कि प्रत्येक वस्तु द्रव्यदृष्टि से नित्य और एकरूप है और पर्यायदृष्टि से अनित्य और अनेकरूप है। जो वस्तु को एक और नित्य कहता है उसकी दृष्टि उसके द्रव्यरूप पर है और जो वस्तु को अनित्य और अनेक कहता है उसकी दृष्टि पर्यायरूप पर है। पहले की दृष्टि में द्रव्य की मुख्यता और पर्याय की गौणता है। दूसरे की दृष्टि मे पर्याय की मुख्यता और द्रव्य की गौणता है। गौणता और मुख्यता से ही वस्तु की सिद्धि होती है। किन्तु यदि कोई कहता है कि वस्तु नित्य और एकरूप ही है या वस्तु अनित्य और अनेकरूप ही है, तो वह मिथ्या है, क्योंकि वस्तु उभयरूप है। इसी तरह निश्चयनय से ससारी आत्मा भी सिद्धों के समान शुद्ध है और व्यवहारनय से अशुद्ध है।

निश्चयनय स्वाश्रित स्वरूप का ग्राही है। संसारी आत्मा का स्वाश्रित स्वरूप तो शुद्धता ही है और व्यवहारनय पराश्रित रूप का ग्राही है, अत. अशुद्धता पराश्रित है, क्योंकि कर्मों का निमित्त पाकर ही अशुद्धता होती है। ये दोनों ही रूप यथार्थ हैं, शुद्धता आत्मा का स्वरूप होने से शाश्वत है और अशुद्धता आगन्तुक होने से अस्थायी है। वह आत्मा का स्वरूप नही है। इसी से आगम में निश्चयनय को सत्यार्थ और व्यवहारनय को असत्यार्थ कहा है। किन्तु इसका मतलब यह नही है कि आत्मा संसार अवस्था में पर्याय रूप से भी शुद्ध है और अशुद्धता उसमें है ही नहीं। यदि ऐसा हो तो फिर मुक्ति के लिये प्रयत्न करना ही व्यर्थ हो जायेगा। अत· नयदृष्टि का जानना बहुत आवश्यक है। नय दृष्टि को सम्यक् रीति से समझे बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती। प्रमाण और नय के द्वारा वस्तु को जानने के लिये अनुयोग भी आवश्यक हैं। वे

अनुयोग हैं— निर्देश, स्वामित्व,साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान तथा सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व। वस्तु के स्वरूप को कहना **निर्देश** है, जैसे जीव का लक्षण चेतना है।

या सम्यग्दर्शन का लक्षण तत्त्वार्थ श्रद्धान है। वस्तु के स्वामित्व के कहने को **स्वामित्व** कहते हैं, जैसे सम्यग्दर्शन किसके होता है? ऐसा प्रश्न होने पर यह कहना कि चारों जाति के जीवों को सम्यग्दर्शन होता है। उत्पत्ति के निमित्त को **साधन** कहते हैं, जैसे सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का अन्तरङ्ग साधन दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम आदि है और बाह्य साधन जिनबिम्बदर्शन आदि है। वस्तु के आधार को **अधिकरण** कहते हैं, जैसे सम्यग्दर्शन का अधिकरण आत्मा है, आत्मा में ही सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। ठहरने की मर्यादा को **स्थिति** कहते हैं, जैसे औपशमिक सम्यग्दर्शन की स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। प्रकार कथन को **विधान** कहते हैं, जैसे सम्यग्दर्शन के तीन प्रकार हैं—औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक। मध्यमरुचि शिष्यों के लिये ये छह अनुयोग हैं और विस्तार से जानने के इच्छुक जनों के लिये आगे आठ अनुयोगद्वार हैं।

'जीव है' इत्यादि अस्तित्व के कथन करने को **सत्** कहते हैं। भेदों की गणना को **संख्या** कहते हैं, जैसे जीव अनन्तानन्त हैं या मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त हैं। वर्तमान निवास को **क्षेत्र** कहते हैं। जैसे जीव का क्षेत्र लोक का असंख्यातवाँ भाग, संख्यातवाँ भाग या सर्वलोक है। त्रिकालवर्ती निवास को **स्पर्शन** कहते हैं, जैसे जीवों का स्पर्शन सर्वलोक है। अमुक गुणस्थान या मार्गणा में जीव के रहने के समय की मर्यादा को **काल** कहते हैं। विवक्षित गुणस्थान को या मार्गणास्थान को छोड़कर दूसरे गुणस्थान में जाकर पुनः उसी गुणस्थान को प्राप्त होने में जो विरहकाल होता है उसे **अन्तर** कहते हैं, जैसे मिथ्यात्व गुणस्थान का जघन्य विरहकाल एक जीव की अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त है। जीव अन्तर्मुहूर्त के लिये सम्यग्दृष्टि होकर पुनः मिथ्यात्व में आ जाता है। जीव के औदयिक आदि परिणामों को **भाव** कहते हैं, जैसे औपशमिक सम्यग्दृष्टि औपशमिकभाव वाला है। मिथ्यादृष्टि के औदयिकभाव है, क्योंकि उसके मिथ्यात्व का उदय है। परस्पर में सख्या की विशेषता को **अल्पबहुत्व** कहते हैं, जैसे क्षायिक सम्यग्दृष्टियों से औपशमिक सम्यग्दृष्टि द्रव्य की अपेक्षा अल्प होते हैं। इस तरह प्रमाण, नय, निक्षेप और सत् आदि अनुयोगों के द्वारा सभी पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये,

किन्तु सभी पदार्थों में मुख्य तो जीव पदार्थ है । अतः उसे जीवस्थान, गुणस्थान और मार्गणास्थानों के द्वारा विशेषरूप से जानना आवश्यक है । उससे सम्यग्दर्शन में दृढ़ता आती है । अतः यहाँ उनका कथन किया जाता है ।

एकेन्द्रिय जीव बादर और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार के होते हैं । शेष द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीव बादर ही होते हैं । पञ्चेन्द्रिय जीव भी संज्ञी और असंज्ञी के भेद से दो प्रकार के होते हैं । शेष एकेन्द्रिय आदि जीव असंज्ञी ही होते हैं, उनके मन नही होता है । इस तरह सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय—ये सातों प्रकार के जीव पर्याप्तक भी होते हैं और अपर्याप्तक भी होते हैं । इस तरह सक्षेप से ये चौदह जीवस्थान हैं । एकेन्द्रियों में एकेन्द्रिय जातिनामकर्म, सूक्ष्मनामकर्म, बादरनामकर्म, पर्याप्तक और अपर्याप्तक नामकर्म के उदय से चार ही जीवस्थान होते हैं । विकलेन्द्रियों में द्वीन्द्रिय नामकर्म, त्रीन्द्रिय नामकर्म, चतुरिन्द्रिय नामकर्म, बादर नामकर्म, पर्याप्तक नामकर्म और अपर्याप्तक नामकर्म के उदय से छह जीवस्थान होते हैं । पञ्चेन्द्रियों में संज्ञी और असज्ञी नामकर्म तथा पर्याप्तक और अपर्याप्तक नामकर्म के उदय से चार जीवस्थान होते हैं । गुणस्थान चौदह हैं—मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यक्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, सयतासंयत, प्रमत्तसयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिबादर-साम्पराय, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणकषाय, सयोगकेवली, अयोगकेवली ।

मिथ्यादर्शन कर्म के उदय से पराधीन जीव **मिथ्यादृष्टि** कहलाता है । इसी से उसके तत्त्वार्थ का श्रद्वान नही होता है । यद्यपि उसके ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से तीन ज्ञान तक होते है, किन्तु वे मिथ्याज्ञान कहे जाते हैं । ये मिथ्यादृष्टि जीव सक्षेप में दो प्रकार के होते हैं—एक हिताहित के विचार से शून्य और दूसरे परीक्षक । सज्ञिपर्याप्तक के सिवाय एकेन्द्रिय आदि सभी जीव हिताहित की परीक्षा करने में असमर्थ होते है, सज्ञिपर्याप्तक परीक्षावाले भी होते हैं और परीक्षा-शून्य भी होते हैं ॥१ ॥

मिथ्यादर्शन का उदय रुक जाने पर अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से कलुषित आत्मा वाला जीव **सासादन सम्यग्दृष्टि** कहा जाता है । इसका खुलासा इस प्रकार है—अनादिमिथ्यादृष्टि भव्य अथवा सादिमिथ्यादृष्टि प्रथमोपशम सम्यक्त्व को ग्रहण करने के लिये शुभ परिणाम के अभिमुख होता है, अन्तर्मुहूर्तकाल तक उसकी विशुद्धि

अनन्त गुणवृद्धि से वर्धमान होती है। सक्लेशरहित, वर्धमान शुभ परिणाम के प्रताप से वह सर्व कर्म प्रकृतियों की स्थिति को घटाता है, अशुभ प्रकृतियों के अनुभाग बन्ध का अपसारण करता हुआ और शुभ प्रकृतियों के रस की उद्वर्तना करता हुआ तीन करण करता है— अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण।

प्रत्येक करण का काल अन्तर्मुहूर्त होता है। कर्मों की स्थिति अन्त:कोड़ाकोड़ी-सागर करके काल आदि लब्धि सहित अधःकरण के प्रथम समय में प्रवेश करता है। यह करण पहले कभी नही हुआ, इसी से इसका सार्थक नाम अथाप्रवृत्तकरण भी है। इसमें उत्तरोतर विशुद्धि अनन्तगुणी बढ़ती जाती है। इसमें परिणामो की सख्या असंख्यात लोक प्रमाण होती है और नाना जीवों के वे परिणाम सदृश भी होते हैं और विसदृश भी होते हैं। उन परिणामों के समुदाय को ही **अथाप्रवृत्तकरण** कहते हैं। इसके पश्चात् अपूर्वकरण होता है। ये परिणामी भी असख्यात लोक प्रमाण होते हैं। किन्तु विभिन्न समयवर्ती नाना जीवों के परिणाम परस्पर में नियम से विसदृश ही होते है, इसी से इसका अपूर्वकरण नाम भी सार्थक है। अनिवृत्तिकरण के काल में नाना जीवों के परिणाम प्रथम समय में एकरूप-सदृश ही होते हैं, दूसरे समय मे उससे अनन्तगुणे, किन्तु परस्पर में सदृश ही होते हैं। इसी से परस्पर में निवृत्ति का अभाव होने से इसका भी अनिवृत्तिकरण नाम सार्थक है। अथाप्रवृत्तकरण मे स्थिति खण्डन, अनुभाग खण्डन, गुणश्रेणी, गुणसक्रम नही होते, केवल अनन्तगुणी वृद्धि से विशुद्ध होता हुआ अप्रशस्त प्रकृतियों को अनन्तगुणे अनुभाग से हीन बाँधता है और प्रशस्त प्रकृतियों को अनन्तगुणी अनुभाग की वृद्धि को लिये हुए बाँधता है। स्थिति भी पल्य के असंख्यात भाग हीन बाँधता है। अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण में स्थिति खण्डन आदि होते हैं और स्थितिबन्ध क्रम से घटता जाता है। अशुभ प्रकृतियों के अनुभाग बन्ध में अनन्तगुणी हानि और शुभ प्रकृतियों के अनुभाग बन्ध में अनन्तगुणी वृद्धि होती है। अनिवृत्तिकरण के काल के सख्यात भाग बीतने पर अन्तरकरण करता है, उससे मिथ्यात्व कर्म के उदय का घात होता है। अन्तिम समय मे मिथ्यादर्शन के तीन भाग हो जाते हैं— सम्यक्त्व, सम्यक्मिथ्यात्व और मिथ्यात्व। इन तीनो प्रकृतियो के तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय का अभाव होने पर अन्तर्मुहूर्त के लिये प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्रकट होता है। उसके अन्त होने मे जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से छह आवलि काल शेष रहने पर जब अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ में से किसी एक का उदय होता है तब उसे **सासादन सम्यग्दृष्टि** कहते है। इसका

यह नाम सार्थक है । आसादन का अर्थ है विराधना और जो आसादन सहित हो उसे सासादन कहते हैं । जिसकी सम्यग्दृष्टि सासादन-विराधना सहित होती है वह **सासादन सम्यग्दृष्टि** है । यद्यपि उसके मिथ्यात्व का उदय नही होता है, तथापि अनन्तानुबन्धी का उदय होने से उसके तीनों ज्ञान अज्ञान ही होते हैं । इसी से उसका यह नाम भी सार्थक है । अनन्त संसार का कारण होने से मिथ्यादर्शन को अनन्त कहते हैं । उसके अनुबन्धन से इसे अनन्तानुबन्धी कहते हैं । उसका उदय होने पर मिथ्यात्व में ही पतन होता है ।।२ ।।

जैसे आधे शुद्ध किये गये कोदों को खाने से किञ्चित् मद रहने से परिणाम किञ्चित् कलुषित होते हैं, वैसे ही सम्यक्-मिथ्यात्व नामक प्रकृति के उदय से आत्मा के परिणाम तत्त्वार्थ के श्रद्धान और अश्रद्धान रूप होते हैं, अत उसे **सम्यक् मिथ्यादृष्टि** कहते है ।।३ ।।

औपशमिक, क्षायोपशमिक अथवा क्षायिक सम्यक्त्व से युक्त, किन्तु चारित्रमोहनीय का उदय होने से अत्यन्त अविरत परिणामवाला **असंयत सम्यग्दृष्टि** कहा जाता है । उसके तीनो ज्ञान तत्त्वार्थ का श्रद्धान होने से सम्यग्ज्ञान कहे जाते हैं । इससे आगे के गुणस्थानो में नियम से सम्यक्त्व होता है ।।४ ।।

पॉचवें आदि गुणस्थान चारित्रमोह के क्षयोपशम, उपशम और क्षय से होते हैं । अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण नामक कषाये सर्वघाती ही हैं । इनके उदयक्षय और सदुपशम से तथा सर्वघाती प्रत्याख्यानावरण का उदय होने पर और देशघाती सज्वलन कषाय तथा नौ नोकषायों का उदय होने पर सयमासयमलब्धि होती है । उसके योग्य प्राणिविषयक और इन्द्रियविषयक विरताविरत रूप परिणति वाला जीव **संयतासंयत** कहलाता है ।।५ ।।

अनन्तानुबन्धी कषाय का उपशम, क्षय या उदयक्षय होने पर तथा आठ कषायों का उदयक्षय और सदुपशम और सज्वलन तथा नोकषायों के उदय में संयम होता है । किन्तु पन्द्रह प्रकार के प्रमादों के कारण चारित्र परिणाम में किञ्चित् स्खलन भी होता है, अत. उसे **प्रमत्तसंयत** कहते हैं ।।६ ।।

पूर्ववत् संयम के होते हुए पूर्वोक्त पन्द्रह प्रमादो के न होने से जिसका सयम अस्खलित होता है, उसे **अप्रमत्तसंयत** कहते हैं ।।७ ।।

यहाँ से आगे चार गुणस्थानों की दो श्रेणियाँ होती हैं— उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणि। जिसमें आत्मा मोहनीय कर्म का उपशम करता हुआ आरोहण करता है वह **उपशमश्रेणि** है और जिसमें मोहनीय का क्षय करते हुए आगे बढ़ता है वह **क्षपकश्रेणि** है। अपूर्वकरण परिणाम का पहले कथन किया है। उनकी विशुद्धि से श्रेणी पर आरोहण करनेवाले को **अपूर्वकरण** कहते हैं। इस गुणस्थान में मोहनीय कर्म का न तो उपशम होता है और न क्षय होता है, किन्तु पहले और आगे होने वाले उपशम और क्षय की अपेक्षा से इसे उपशमक या क्षपक कहा जाता है ॥८ ॥

पूर्वोक्त अनिवृत्ति परिणाम के कारण कर्मप्रकृतियों का स्थूलरूप से उपशम या क्षय करने वाले को **अनिवृत्तिबादरसाम्पराय** कहते हैं ॥९ ॥

साम्पराय कषाय को कहते हैं। जहाँ कषाय का सूक्ष्मरूप से उपशम या क्षय होता है उसे **सूक्ष्मसाम्पराय** कहते हैं ॥१० ॥

समस्त मोहनीय कर्म के उपशम से **उपशान्तकषाय या उपशान्तमोह** कहा जाता है ॥११ ॥

समस्त मोहनीय कर्म के क्षय से **क्षीणकषाय** कहा जाता है ॥१२ ॥

घातिकर्मों के अत्यन्त क्षय से जिनके केवलज्ञानादि गुण प्रकट हो जाते हैं उन्हे **केवली** कहते हैं। योग के होने और न होने से केवली के दो भेद हैं।

योगसहित केवली को **सयोगकेवली** कहते हैं ॥१३ ॥

योग रहित केवली को **अयोगकेवली** कहते हैं ॥१४ ॥

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहारक के भेद से चौदह मार्गणाएँ हैं। गति के दो प्रकार हैं— एक कर्म के उदय से होने वाली गति और दूसरी क्षय से होने वाली गति। पहली गति के चार भेद हैं— नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति। मोक्षगति क्षायिकी है ॥१ ॥

इन्द्र आत्मा को कहते हैं और उसके चिह्न को **इन्द्रिय** कहते हैं। वह इन्द्रिय द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार की होते हुए भी पाँच भेद रूप है— स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। जिस जीव के एक ही इन्द्रिय होती है उसे **एकेन्द्रिय** कहते हैं। इसी

तरह दो इन्द्रियवाले जीव को **द्वीन्द्रिय**, तीन इन्द्रियों वाले जीव को **त्रीन्द्रिय**, चार इन्द्रियों वाले जीव को **चतुरिन्द्रिय** और जिसके पाँचों इन्द्रियाँ होती है उसे **पञ्चेन्द्रिय** कहते हैं। ये सब इन्द्रियाँ कर्मकृत हैं। आत्मा का अतीन्द्रियपना क्षायिक है ॥२॥

आत्मा की प्रवृत्ति से सञ्चित पुद्गल पिण्ड को **काय** कहते है। उससे सम्बद्ध जीव के छह भेद हैं— पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस् कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक। ये सब भाव त्रसनामकर्म और स्थावरनामकर्म के उदय से होते हैं। नामकर्म का अत्यन्त उच्छेद होने से सिद्ध कायरहित होते हैं ॥३॥

वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से होनेवाली वीर्यलब्धि से युक्त आत्मा के मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणा के आलम्बन से जो प्रदेश परिस्पन्द होता है उसे **योग** कहते हैं। उसके पन्द्रह भेद हैं— चार मनोयोग, चार वचनयोग और सात काययोग। आत्मा के योग सम्बन्ध का अभाव क्षायिक है। मनोयोग के चार भेद हैं— सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग और अनुभय मनोयोग। वचनयोग के चार भेद हैं— सत्य वचनयोग, असत्य वचनयोग, उभय वचनयोग और अनुभय वचन-योग। काययोग के सात भेद हैं— औदारिक काययोग, औदारिक मिश्रकाययोग, वैक्रियिक काययोग, वैक्रियिक मिश्रकाययोग, आहारक काययोग, आहारक मिश्र काययोग तथा कार्मणकाययोग ॥४॥

आत्मा की प्रवृत्ति से जो सम्मोह उत्पन्न होता है उसे **वेद** कहते हैं। नोकषाय का उदय उसमें निमित्त होता है। वेद के तीन भेद हैं— स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसकवेद। आत्मा का अपगत वेदपना या तो औपशमिक होता है या क्षायिक ॥५॥

जो चारित्ररूप परिणाम का घात करती है उसे **कषाय** कहते है। उसके चार भेद हैं— क्रोध, मान, माया, और लोभ। आत्मा का अकषायपना या तो औपशमिक होता है या क्षायिक ॥६॥

तत्त्वार्थ के बोध को **ज्ञान** कहते हैं। उसके पाँच भेद हैं— मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। मिथ्यादर्शन के उदय से जो कलुषता होती है वह अज्ञान है। उसके तीन भेद हैं— कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और कुअवधि-ज्ञान ॥७॥

व्रतों का धारण, समिति का पालन, कषाय का निग्रह, मन-वचन-काय की प्रवृत्ति का त्याग और इन्द्रियो को जीतना **संयम** है। उसके पाँच प्रकार हैं— सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात। यह सयम चारित्रमोह के क्षयोपशम, उपशम और क्षय से होता है। सिद्धों में जो असयम, सयमासयम और सयम का अभाव है वह क्षायिक है ॥८॥

दर्शनावरण कर्म के क्षय और क्षयोपशम से प्रकट होनेवाला आलोचन **दर्शन** है। उसके चार भेद हैं— चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ॥९॥

कषाय के उदय से अनुरञ्जित योगप्रवृत्ति को **लेश्या** कहते हैं। उसके छह भेद हैं— कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल। शरीर नामकर्म के उदय से द्रव्यलेश्या होती है, अलेश्यपना क्षायिक है ॥१०॥

जो जीव भविष्य में मोक्ष प्राप्त करेगा उसे **भव्य** और जो नही प्राप्त करेगा उसे **अभव्य** कहते है। ये दोनो भाव पारिणामिक हैं ॥११॥

तत्त्वार्थ के श्रद्धान को **सम्यक्त्व** कहते है। वह दर्शनमोहनीय के उपशम, क्षय और क्षयोपशम से होता है। सासादन सम्यक्त्व अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से होता है, अत औदयिक है। सम्यक् मिथ्यात्व क्षायोपशमिक है और मिथ्यात्व औदयिक है ॥१२॥

जो शिक्षा, उपदेश आदि को ग्रहण कर सकता है वह **सज्ञी** है, जो नही ग्रहण कर सकता वह **असंज्ञी** है। सज्ञित्व क्षायोपशमिक है, असज्ञित्व औदयिक है। सज्ञित्व और असज्ञित्व का अभाव क्षायिक है ॥१३॥

उपभोग वाले शरीर के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करना **आहार** है, नही ग्रहण करना **अनाहार** है। शरीर नामकर्म के उदय और विग्रहगति नामकर्म के उदय के अभाव से आहार होता है और विग्रहगति नामकर्म के उदय तथा तीन शरीर नामकर्म के उदय के अभाव मे अनाहार होता है ॥१४॥

ये चौदह मार्गणास्थान हैं।

इस तरह जीवस्थान, गुणस्थान और मार्गणास्थानो के द्वारा जीव के स्वरूप का चिन्तवन करने से ससारी और मुक्त जीव का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है और उसका

अनुभवन करने से सम्यक्त्वभाव में उत्तरोत्तर विशुद्धि और दृढ़ता आती है। अत. सम्यक्त्व दृढ़ता के लिये सम्यग्ज्ञान बहूपयोगी है। इन दोनों के साथ ही सम्यक्चारित्र का विकास होता है। ज्यों ज्यों आत्मा अपने स्वरूप को पहचान कर उसमे स्थिर होने का प्रयत्न करता है, त्यों-त्यो उसकी बाह्य प्रवृत्तियाँ निरुद्ध होती जाती हैं और ज्यो-ज्यो बाह्य प्रवृत्तियाँ निरुद्ध होती जाती हैं त्यों-त्यों वह अपने स्वरूप मे स्थिर होता जाता है। उसी के लिये वह गृहस्थाश्रम छोड़कर साधुमार्ग में प्रवेश करता है और अन्तरङ्ग तथा बाह्य तप के द्वारा कर्मों की निर्जरा करके मुक्तिलाभ करता है ॥७३-७६ ॥

आगे शास्त्रकार शास्त्र के अध्ययन का प्रयोजन बतलाते हैं—

भव्यः पञ्चगुरूंस्तपोभिरमलैराराध्य बुध्वागमम्,
तेभ्योऽभ्यस्य तदर्थमर्थविषयाच्छब्दादपभ्रंशतः ।
दूरीभूततरात्मकादधिगतो बोद्धाऽकलङ्कं पदम्,
लोकालोककलावलोकनबलप्रज्ञो जिनः स्यात् स्वयम् ॥७७ ॥

अर्थ— भव्यजीव निर्मल अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग तप के द्वारा अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी की आराधना करके आगम को जाने तथा अनादि परम्परा से आये हुए और जीवादि अर्थों का निरूपण करने वाले दोषरहित शब्द रूप आगम के अर्थ का गुरुओ के द्वारा अभ्यास करे। ऐसा करने से वह ज्ञाता आर्हन्त्य पद को प्राप्त करके स्वय लोक और अलोक के विभाग को जानने-देखने की शक्ति और ज्ञान से युक्त होता हुआ जिन हो जाता है ॥७७ ॥

विशेषार्थ— परमागम का अभ्यास किस प्रकार करना चाहिये और उसके अभ्यास का क्या फल है, यह यहाँ बतलाया गया है। शब्दरूप आगम सन्तान की अपेक्षा अनादि है और व्यक्ति विशेष की अपेक्षा सादि है। तथा उसमे जीवादि पदार्थो का स्वरूप वर्णित है। उस शब्द रूप परमागम का अभ्यास करके मुमुक्षु को उसका अर्थ सम्यक् रीति से जानना चाहिये। क्योकि वस्तु तत्त्व को जाने बिना मोक्षमार्ग मे गति सम्भव नही है। **आचार्य कुन्दकुन्द** ने **प्रवचनसार** मे साधु को **'आगमचक्षु'** लिखा है। अर्थात् साधु की सच्ची ऑख आगम है, उसी के द्वारा वह जानता-देखता है। मोक्षमार्ग में शारीरिक ऑखो से काम नही चलता है। इनका भरोसा करने से तो

संसार का अन्त नहीं हो सकता है । आगम का अभ्यास आगम के ज्ञाता ऋषि-महर्षियों से ही सम्यक् रीति से किया जा सकता है । पहले युग में वे ही आगम के अधिकारी माने जाते थे, क्योंकि उन्हें गुरु-परम्परा से आगम का ज्ञान प्राप्त होता था, अत उसमें विसंवाद को स्थान नही था । उसके लिये मुमुक्षु ससार त्यागी आगमज्ञ गुरुओं की उपासना उन्ही के मार्ग पर चलकर करता था, तभी उन्हें गुरुमुख से आगम के अर्थ का सम्यक् परिज्ञान होता था । आगम से होने वाले ज्ञान को **श्रुतज्ञान** कहते हैं । उसी स्वसंवेदन रूप श्रुतज्ञान के अनुचिन्तन से ज्ञानी आत्मा सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बनकर स्वय साक्षात् जिन हो जाता है । यह परमागम के अभ्यास का स्वार्थ सम्पत्तिरूप फल है ॥७७ ॥

आगे परार्थ सम्पत्तिरूप फल को कहते है—

प्रवचनपदान्यभ्यस्यार्थांस्ततः परिनिष्ठितान-
सकृदवबुद्धेद्धाद्बोधाद् बुधो हतसंशयः ।
भगवदकलङ्कानां स्थानं सुखेन समाश्रितः,
कथयतु शिवं पन्थानं वः पदस्य महात्मनाम् ॥७८ ॥

अर्थ— प्रवचन के पदो का अभ्यास करके उनमें वर्णित जीवादि अर्थों को निर्मल ज्ञान के द्वारा जानकर सशय आदि से रहित हुआ ज्ञानी भगवान् निष्कलङ्क परमात्मा के स्थान को प्राप्त होकर आप सबको शुद्ध सिद्ध परमात्मा के पद को प्राप्त कराने वाले मोक्षमार्ग का सुखपूर्वक उपदेश करे ॥७८ ॥

विशेषार्थ— आगम को प्रवचन भी कहते है, क्योंकि वे वचन प्रकृष्ट पुरुष के होते हैं और प्रकृष्ट पूर्वापर विरोध रहित होते हैं । प्रवचन के पदो का अभ्यास करके ज्ञानी मुमुक्षु उनमें प्रतिपादित तत्त्वों को सम्यक् रीति से अपने निर्मल ज्ञान के द्वारा जानता है, उससे उसका सशय आदि दूर हो जाता है । आगम के अभ्यास से तो ज्ञान में निर्मलता आती ही है, इसके सिवाय निर्मल ज्ञान के बिना आगम के पदों का अर्थ भी सम्यक् रीति से नही जाना जा सकता हं । जिसका ज्ञान सदोष होता है, अर्थात् जो व्यक्ति क्षोदक्षेम की भावना से शास्त्राभ्यास करता है, उसे उसके यथार्थ अर्थ की प्रतीति नही होती है । अत मद आदि के आवेश को दूर करके ही शास्त्राभ्यास करना उचित है । इसी से ग्रन्थकार ने ज्ञान के साथ '**इद्ध**' विशेषण लगाया है । इस प्रकार प्रवचन के

पदो का अभ्यास करके स्वसवित्ति रूप श्रुतज्ञान भावना के द्वारा शुक्लध्यान को प्राप्त होकर वह स्वय निष्कलङ्क परमात्मा बन जाता है । ग्रन्थकार का नाम अकलङ्क है, अत अकलङ्क पद के द्वारा उन्होने कलङ्क रहित अरहन्त परमात्मा का निर्देश करते हुए अपना भी नामोल्लेख कर दिया है । इस तरह प्रवचन के अभ्यास से अपना उपकार तो होता ही है, परोपकार भी होता है, क्योंकि अरहन्त पद प्राप्त करके केवली जिन मोक्षमार्ग का उपदेश समागत श्रोताओं को देते हैं । उसी से मोक्ष का मार्ग चलता है । अत· ग्रन्थकार अकलङ्कदेव की भावना है कि शास्त्राभ्यास करके अभ्यास करने वाला अरहन्त पद प्राप्त करे और दूसरो को उसका उपदेश देकर धर्म की परम्परा प्रवर्तित करे ॥७८ ॥

॥श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेव विरचित लघीयस्त्रय हिन्दी-अनुवाद समाप्त ॥

॥तृतीय प्रवचनप्रवेश के अन्तर्गत सप्तम निक्षेपपरिच्छेद समाप्त ॥

॥तृतीय प्रवचनप्रवेश समाप्त ॥

■

परिशिष्ट - १

कारिका - प्रथमपादानुक्रमणिका

परिशिष्ट - २

पारिभाषिक-शब्दानुक्रमणिका

अंश : अश कहते है द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के विभाग को । (पृष्ठ४२)

अक्ष : अक्ष नाम आत्मा का है, क्योकि वह जानता है । (पृष्ठ ९०)

अक्षधी : अक्ष माने इन्द्रिय और उससे होने वाले ज्ञान को अक्षधी अर्थात् साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते है। (पृष्ठ ५०)

अथाप्रवृत्तकरण यह करण पहले कभी नही हुआ, इसी से इसका सार्थक नाम अथाप्रवृत्तकरण भी है। इसमे उत्तरोत्तर विशुद्धि अनन्तगुणी बढती जाती है। इसमे परिणामो की सख्या असख्यात लोक-प्रमाण होती है और नाना जीवो के वे परिणाम सदृश भी होते है और विसदृश भी होते है। उन परिणामो के समुदाय को ही अथाप्रवृत्तकरण कहते है। (पृष्ठ१०४)

अदृश्यानुपलब्धि . जो वस्तु न दिखाई देने योग्य होती है उसके अभाव को अदृश्यानुपलब्धि कहते है । (पृष्ठ३९)

अधिकरण : वस्तु के आधार को अधिकरण कहते है। जैसे सम्यग्दर्शन का अधिकरण आत्मा है, आत्मा मे ही सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। (पृष्ठ१०२)

अधिगमज · परोपदेशपूर्वक तत्त्वज्ञान होकर जो सम्यक्त्व प्राप्त होता है उसे अधिगमज कहते है। (पृष्ठ९९)

अध्रुवज्ञान : चचल बिजली वगैरह को जानना अध्रुवज्ञान है। (पृष्ठ१६)

अनन्त . अनन्त ससार का कारण होने से मिथ्यादर्शन को अनन्त कहते है (पृष्ठ१०५)

अनन्तानुबन्धी : अनन्त ससार का कारण होने से मिथ्यादर्शन को अनन्त कहते है। उसके अनुबन्धन से इसे (सासादन सम्यग्दृष्टि को) अनन्तानुबन्धी कहते है। (पृष्ठ१०५)

अनाहार : (उपभोग वाले शरीर के योग्य पुद्गलो को) नही ग्रहण करना अनाहार है। (पृष्ठ१०८)

अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष : स्मृति, सज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध को अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा है। (पृष्ठ२८)

० स्मृति आदि चारो ज्ञान अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष है, क्योकि उनमे मन की सहायता रहती है। (पृष्ठ२९)

० केवल मन की सहायता से होने वाला अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष है। (पृष्ठ८३)

अनिवृत्तिबादरसाम्पराय : अनिवृत्ति परिणाम के कारण कर्मप्रकृतियो का स्थूलरूप से उपशम या क्षय करने वाले को अनिवृत्ति-बादरसाम्पराय कहते हैं। (पृ० १०६)

अनि:सृतज्ञान : वस्तु के एक भाग को देखकर पूरी वस्तु को जान लेना अनि·सृतज्ञान है। (पृ० १६)

अनुक्तज्ञान : बिना कहे अभिप्राय से ही जान लेना अनुक्तज्ञान है। (पृ० १६)

अनुमान : साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं। (पृ० ३४)

० साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते है। (पृ० ३५)

० हेतु से साध्य के जानने को अनुमान कहते है। (पृ० ३५)

० अभिनिबोध अनुमान को कहते हैं। (पृ० ५०)

अनुमान ज्ञान : कही धुआँ निकलता देखकर यह जानना कि वहाँ अग्नि है, यह अनुमान ज्ञान है । (पृ० ३५)

अनुमान प्रमाण : जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ आग होती है, ऐसा नियम है। इस नियम के अनुसार किसी स्थान पर उठते हुए धुएँ को देखकर 'वहाँ अग्नि है' ऐसा जो ज्ञान होता है, उसे अनुमान प्रमाण कहते है। (पृ० ११-१२)

अन्तर : विवक्षित गुणस्थान को या मार्गणास्थान को छोडकर दूसरे गुणस्थान मे जाकर पुन उसी गुणस्थान को प्राप्त होने मे जो विरहकाल होता है उसे अन्तर कहते हैं। जैसे मिथ्यात्व गुणस्थान का जघन्य विरहकाल एक जीव की अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त है। जीव अन्तर्मुहूर्त के लिये सम्यग्दृष्टि होकर पुन· मिथ्यात्व मे आ जाता है। (पृ० १०२)

अन्वय : कारण के होने पर कार्य का होना अन्वय है। (पृ० १५)

० कारण के होने पर कार्य के होने को अन्वय कहते है। (पृ० ७८)

अप्रमत्तसयत : पूर्ववत् संयम के होने से जिसका संयम अस्खलित होता है, उसे अप्रमत्तसयत कहते है। (पृ० १०५)

अप्रमाण : जो व्यवहार के अनुकूल नही होता है, उसे अप्रमाण कहा जाता है। (पृ० ९४)

० सशय ज्ञान, विपरीत ज्ञान और अनध्यवसाय रूप ज्ञान व्यवहारोपयोगी नही होते है। इसी से उन्हे अप्रमाण कहा जाता हैं। (पृ० ९४-९५)

अपूर्णकरण अपूर्वकरण परिणाम की विशुद्धि से श्रेणी पर आरोहण करने वाले को अपूर्वकरण कहते हैं। (पृ० १०६)

अभव्य : जो मोक्ष नही प्राप्त करेगा उसे अभव्य कहते है। (पृ० १०८)

अभिनिबोध : अभिनिबोध अनुमान को कहते हैं। (पृ०५०)

अयोगकेवली : योग रहित केवली को अयोगकेवली कहते हैं। (पृष्ठ १०६)

अर्थ : विषय को अर्थ कहते है। (पृष्ठ १४)

० जो पर्यायो को प्राप्त करता है अथवा पर्यायो के द्वारा प्राप्त कियाजाता है, उसे अर्थ कहते हैं। (पृष्ठ १९)

० जो जाना जाता है उसे अर्थ कहते है। (पृष्ठ १९-२०)

० जो अपना काम करता है उसे अर्थ कहते है। (पृष्ठ ५९)

अर्थक्रिया : अर्थक्रिया का मतलब है कुछ काम करना। (पृष्ठ २१)

० अर्थक्रिया का मतलब है अपना काम करना। (पृष्ठ ५९)

अर्थनय : नैगम, सग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र– ये चार अर्थनय है। (पृष्ठ६९)

० नैगम सग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्रनय जीव-अजीव आदि पदार्थोंका अवलम्बन लेकर ही प्रवृत्त होते हैं, अत अर्थप्रधान होने से उन्हे अर्थनय कहते है। (पृष्ठ ९६)

अल्प (ज्ञान): अल्प को अथवा एक वस्तु को जानना अल्प या एकज्ञान है। (पृष्ठ १६)

अल्पबहुत्व : परस्पर मे संख्या की विशेषता को अल्पबहुत्व कहते हैं। जैसे क्षायिक सम्यग्दृष्टियो से औपशमिक सम्यग्दृष्टि द्रव्य की अपेक्षा अल्प होते है। (पृष्ठ १०२)

अवग्रह : इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध होने पर सत्ता मात्र का दर्शन होता है। उसके पश्चात् पदार्थ के आकार को लिये हुए जो निर्णयात्मक ज्ञान होता है, उसे अवग्रह कहते हैं। (पृष्ठ १३)

० दर्शन के पश्चात् अर्थ के आकार आदि का जो निश्चयात्मक ज्ञानहोता है, वह अवग्रह है। (पृष्ठ१५)

अवधिज्ञान : केवल मूर्तद्रव्यो को जानने वाला अवधिज्ञान है। (पृष्ठ ८४)

अवस्तु . सर्वथा द्रव्यनिरपेक्ष पर्याय अवस्तु है। (पृष्ठ ६७)

अवाय · आकाक्षित विशेष के विनिश्चय को अवाय कहते है। (पृष्ठ १३)

० ईहा से जाने हुए अर्थ के निर्णय रूप ज्ञान को अवाय कहते हैं। जैसे यह मनुष्य दाक्षिणात्य ही है तथा युवा और गौरवर्ण ही है। (पृष्ठ १५)

अविकार : पूर्व तथा उत्तर आकारो मे अनुस्यूत रहने का नाम अविक्रिया या अविकार है। (पृष्ठ २४)

अविक्रिया · पूर्व तथा उत्तर आकारो मे अनुस्यूत रहने का नाम अविक्रिया या अविकार

है। (पृष्ठ २४)

अविनाभाव सम्बन्ध : जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है और जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं होती है, वहाँ-वहाँ धूम भी नही होता है। इसे अविनाभाव सम्बन्ध कहते हैं। (पृष्ठ ३४)

अविसंवाद : प्रमाणान्तर से बाधा न आना, पूर्वापर विरोध का न होना अविसंवाद है। (पृष्ठ ६६)

असंज्ञी : जो (शिक्षा, उपदेश आदि को) नही ग्रहण कर सकता है वह असज्ञी है। (पृष्ठ १०८)

असंयत सम्यग्दृष्टि : औपशमिक, क्षायोपशमिक अथवा क्षायिक सम्यक्त्व से युक्त, किन्तु चारित्र मोहनीय का उदय होने से अत्यन्त अविरत परिणाम वाला असयत सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। (पृष्ठ १०५)

असत्यार्थ : आगम मे व्यवहारनय को असत्यार्थ कहा है। (पृष्ठ १०१)

अस्पष्टता : विशेषो का प्रतिभास न होने को अस्पष्टता कहते है। (पृष्ठ ११)

आगम : जो वचन प्रत्यक्ष और अनुमान से अबाधित होता है उसे ही आगम कहा जाता है। (पृष्ठ ८५)

आप्त : जो पुरुष जिस विषय मे प्रामाणिक होता है, वह उस विषय का आप्त होता है। (पृष्ठ ५३)

आहार : उपभोग वाले शरीर के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करना आहार है। (पृष्ठ १०८)

इन्द्रिय . इन्द्र आत्मा को कहते है और उसके चिह्न को इन्द्रिय कहते है। (पृष्ठ १०६)

इन्द्रिय प्रत्यक्ष : स्पर्शन आदि इन्द्रियो के व्यापार से उत्पन्न होने वाला इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। (पृष्ठ ८३)

ईहा : अवग्रह से जाने हुए पदार्थ के विषय मे विशेष जानने की आकाक्षा को ईहा कहते है। (पृष्ठ १३)

• अवग्रह के पश्चात् अवग्रह के द्वारा जाने गये विषय मे विशेष जानने की आकांक्षा रूप ज्ञान को ईहा कहते हैं। (पृष्ठ १५)

• 'यह मनुष्य किस देश का है' अथवा 'किस अवस्था का है' ऐसी आकाक्षा उत्पन्न होने पर जब 'भवितव्यता प्रत्यय रूप' ज्ञान होता है कि यह आदमी दाक्षिणात्य होना चाहिये या युवा और गौरवर्ण होना चाहिये तो यह ज्ञान ईहा है। (पृष्ठ १५)

० अवग्रह के पश्चात् संशयज्ञान उत्पन्न होता है और उसके पश्चात् जब संशय दूर होकर वह ज्ञान एक निर्णय की ओर झुकने लगता है तो वह ईहा है। (पृष्ठ १५)

उक्तज्ञान : कहने पर जानना उक्तज्ञान है। (पृष्ठ १६)

उद्देश : वस्तु के नाम मात्र कहने को उद्देश कहते है। (पृष्ठ ५)

उपमान प्रमाण : जिस व्यक्ति ने गौ को देखा है, किन्तु गवय नामक पशु को नही देखा, उसने सुना कि गौ के समान गवय होता है। उसके बाद एक दिन जंगल मे घूमते हुए उसने गवय को देखा। उसको देखने के बाद उस मनुष्य को 'इसके समान गौ है' इस प्रकार का जो सादृश्यज्ञान उत्पन्न होता है वह उपमान प्रमाण है। (पृष्ठ ४४)

उपयोग . अर्थ ग्रहण रूप व्यापार को उपयोग कहते हैं। (पृष्ठ १४)

उशमक · इस (अपूर्वकरण) गुणस्थान मे मोहनीय कर्म का न तो उपशम होता है और न क्षय होता है, किन्तु पहले और आगे होने वाले उपशम और क्षय की अपेक्षा से इसे उपशमक या क्षपक कहा जाता है। (पृष्ठ १०६)

उपशमश्रेणि : जिसमे आत्मा मोहनीय कर्म का उपशम करता हुआ आरोहण करता है वह उपशमश्रेणि है। (पृष्ठ १०६)

कषाय · समस्त मोहनीय कर्म के उपशम से उपशान्तकषाय या उपशान्तमोह कहा जाता है। (पृष्ठ १०६)

उपशान्तमोह . देखिये-उपशान्तकषाय । (पृष्ठ १०६)

ऋजुसूत्रनय . व्यवहारनय के अन्तिम भेद रूप एक वस्तु की भूत, भविष्यद् और वर्तमान पर्यायो मे से जो केवल वर्तमान पर्याय को ही ग्रहण करता है वह ऋजुसूत्रनय है। (पृष्ठ ६६-६७)

० प्रधानरूप से पर्याय को मानने वाला ऋजुसूत्रनय कहा गया है। (पृष्ठ ९५)

० ऋजु का अर्थ है सीधा-सरल। अर्थात् अतीत-अनागत पर्यायो को छोड़कर जो केवल वर्तमान पर्याय को ही मुख्यरूप से विषय करता है वह ऋजुसूत्रनय है। (पृष्ठ ९५)

ऋजुसूत्राभास : निरन्वय क्षणिकैकान्त ऋजुसूत्राभास है। (पृष्ठ ६७)

जो एकत्व का अर्थात् द्रव्य का सर्वथा निराकरण करता है वह ऋजुसूत्राभास है। (पृष्ठ ९५)

० जो द्रव्य का सर्वथा निषेध करके केवल क्षणवर्ती पर्याय को ही सत् मानता है वह ऋजुसूत्राभास है। जैसे क्षणिकवादी बौद्धदर्शन। (पृष्ठ ९५)

एकज्ञान · अल्प को अथवा एक वस्तु को जानना अल्प या एकज्ञान है। (पृष्ठ१६

एकत्व प्रत्यभिज्ञान : 'यह वही है' यह एकत्व प्रत्यभिज्ञान है। (पृष्ठ ३३)

एकविधज्ञान · एक प्रकार की वस्तुओ के ज्ञान को एकविधज्ञान कहते हैं। (पृष्ठ १६)

एकेन्द्रिय : जिस जीव के एक ही इन्द्रिय होती है उसे एकेन्द्रिय कहते है। (पृष्ठ १०६)

एवम्भूतनय : जो विवक्षित क्रिया की प्रधानता से अर्थ को भेदरूप ग्रहण करता है वह एवम्भूतनय है। (पृष्ठ ६७)

० विवक्षित क्रिया की प्रधानता से अर्थभेद मानने वाला एवम्भूतनय है। (पृष्ठ ६८)

० क्रिया के भेद से अर्थ को ग्रहण करने वाला एवम्भूतनय है । (पृष्ठ ९६)

० शब्द की व्युत्पत्ति क्रिया के आश्रय से की जाती है। उसके अभाव मे शब्द उस अर्थ को नही कह सकता है। अत जो परम ऐश्वर्य का अनुभवन करता है उसे इन्द्र कहते है। जिस समय वह परम ऐश्वर्य का अनुभव करता है उसी समय इन्द्र है, अन्य समय मे नही। इसी तरह शकन क्रिया के समय ही शक्र है। पुरो के दारण के समय ही पुरन्दर है। क्योकि पदार्थ जिस क्रियारूप परिणत होता है उस क्रिया निमित्तक व्युत्पत्ति वाले शब्दो के द्वारा उसी काल मे कहा जाता है अन्य काल मे नही, यह एवम्भूतनय का अभिप्राय है। (पृष्ठ ९६-९७)

कथञ्चित् प्रत्यक्ष : जो अन्यवादी जिस तैमरिक आदि इन्द्रियज्ञान को प्रत्यक्षाभास कहते है, वह भी कथञ्चित् प्रत्यक्ष है। (पृष्ठ ४८)

कषाय : जो चारित्ररूप परिणाम का घात करती है उसे कषाय कहते है। (पृष्ठ १०७)

काय : आत्मा की प्रवृत्ति से सञ्चित पुद्गल पिण्ड को काय कहते हैं। (पृष्ठ १०७)

कारक : क्रिया से युक्त द्रव्य कारक होता है। (पृष्ठ ७३)

कारकसाकल्य : समस्त कारको के साकल्य (सम्पूर्णता) को कारकसाकल्य कहते है। (पृष्ठ७)

कारण : कार्य अपनी उत्पत्ति मे जिसकी अपेक्षा करता है उसे उसका कारण कहते हैं। (पृष्ठ ६१)

कार्य : जिसके होने पर जो होता है, वह उसका कार्य है। (पृष्ठ ६०)

कार्यकारण : कारण के होने पर कार्य का होना और कारण के अभाव मे कार्य का अभाव, यह कार्यकारण का लक्षण है। (पृष्ठ ५९)

काल : अमुक गुणस्थान या मार्गणा मे जीव के रहने के समय की मर्यादा को काल कहते हैं। (पृष्ठ १०२)

केवलज्ञान : समस्त आवरण और वीर्यान्तराय का पूरी तरह से क्षय हो जाने पर सब द्रव्यो की त्रिकालगत सब पर्यायो को एक साथ प्रत्यक्ष जानने वाला केवलज्ञान है। (पृष्ठ ८४)

केवली : घातिकर्मों के अत्यन्त क्षय से जिनके केवलज्ञानादि गुण प्रकट हो जाते हैं उन्हे केवली कहते है। (पृष्ठ १०६)

क्षणभङ्गवाद : प्रत्येक वस्तु प्रथम क्षण मे उत्पन्न होती है और दूसरे क्षण मे नष्ट हो जाती है इसी का नाम क्षणभङ्गवाद या क्षणिकैकान्तवाद है। (पृष्ठ ५९)

क्षणिक : जो एक क्षणवर्ती होता है, उसे क्षणिक कहते है। (पृष्ठ २२)

क्षणिकैकान्तवाद : प्रत्येक वस्तु प्रथम क्षण मे उत्पन्न होती है और दूसरे क्षण मे नष्ट हो जाती है। इसी का नाम क्षणभङ्गवाद या क्षणिकैकान्तवाद है। (पृष्ठ ५९)

क्षपक : देखिये-उपशमक । (पृष्ठ १०६)

क्षपकश्रेणि : जिसमे आत्मा मोहनीय कर्म का क्षय करते हुए आगे बढता है वह क्षपकश्रेणि है । (पृष्ठ १०६)

क्षिप्रज्ञान : शीघ्रता से जाती हुई वस्तु को जानना क्षिप्रज्ञान है। (पृष्ठ १६)

क्षीणकषाय : समस्त मोहनीय कर्म के क्षय से क्षीणकषाय कहा जाता है। (पृष्ठ १०६)

क्षेत्र : वर्तमान निवास को क्षेत्र कहते हैं। जैसे जीव का क्षेत्र लोक का असंख्यातवाँ भाग, सख्यातवाँ भाग या सर्वलोक है। (पृष्ठ १०२)

गति : कर्म के उदय से होने वाली गति है। (पृष्ठ १०६)

चतुरिन्द्रिय : चार इन्द्रियो वाले जीव को चतुरिन्द्रिय कहते है। (पृष्ठ १०७)

चित्रज्ञान : नील, पीत आदि नानारूपो के ज्ञान को चित्रज्ञान कहते हैं। (पृष्ठ ६७)

चिन्ता : व्याप्ति को ग्रहण कहने वाले ज्ञान को तर्क या चिन्ता कहते है। (पृष्ठ ३४)

o चिन्ता का दूसरा नाम तर्क है। (पृष्ठ ५०)

चिरज्ञान : धीरे-धीरे चलते हुए घोड़े वगैरह को जानना चिरज्ञान है। (पृष्ठ १६)

ज्ञान : जो जानता है वह ज्ञान है। आत्मा ही जानता है, अतः वही ज्ञान है। (पृष्ठ १००)

o तत्त्वार्थ के बोध को ज्ञान कहते है। (पृष्ठ १०७)

तर्क : व्याप्ति को ग्रहण करने वाले ज्ञान को तर्क या चिन्ता कहते हैं। (पृष्ठ ३४)

तिर्यक्-सामान्य : सदृश परिणाम को तिर्यक्-सामान्य कहते हैं। (पृष्ठ ७२)

त्रीन्द्रिय : तीन इन्द्रिय वाले जीव को त्रीन्द्रिय कहते हैं। (पृष्ठ १०७)

दर्शन : (सत्ता के) निर्विकल्पक रूप से ग्रहण को दर्शन कहते हैं। (पृष्ठ १३)

o आगम मे सामान्य ग्रहण को दर्शन कहा है। (पृष्ठ १३)

o आगम मे स्वरूप के ग्रहण को दर्शन कहा है। (पृष्ठ १४)

○ सत्ता सामान्य के ग्रहण को दर्शन कहा है। (पृष्ठ १४)

○ दर्शनावरण कर्म के क्षय और क्षयोपशम से प्रकट होनेवाला आलोचन दर्शन है। (पृष्ठ १०८)

दुर्नय : यदि दोनो ज्ञाता अपने-अपने एकाङ्गी अभिप्राय को ही वस्तु का पूर्ण रूप मानते हैं तो उन दोनो के ही अभिप्राय दुर्नय हैं। (पृष्ठ ५५)

○ भेदमूलक और अभेदमूलक अभिप्राय यदि परस्पर निरपेक्ष हैं तो दुर्नय हैं। (पृष्ठ ५५)

○ यदि ज्ञाता अपने अभिप्राय को ही सत्य और दूसरे अभिप्रायो को असत्य माने तो वह सुनय नही, दुर्नय कहलाता है। (पृष्ठ ७७-७८)

दृश्यानुपलब्धि : जो वस्तु दिखाई देने के योग्य होते हुए भी दिखाई नही देती उसके अभाव को दृश्यानुपलब्धि कहते है। (पृष्ठ २९)

द्रव्य : वस्तु की प्रत्येक दशा मे अनुस्यूत आकार को द्रव्य कहते है। (पृष्ठ २०)

○ जो गुणपर्याय वाला हो वह द्रव्य है। (पृष्ठ ५९)

○ गुणपर्याय वाला द्रव्य है। (पृष्ठ ६६)

○ पूर्व और उत्तर पर्याय मे व्यापक ऊर्ध्वता सामान्य को द्रव्य कहते हैं। जैसे-स्थास आदि पर्यायो में मिट्टी अनुस्यूत रहती है। (पृष्ठ ७२)

○ द्रव्य एकत्व और अन्वयी होता है। (पृष्ठ ९२)

○ एक ही वस्तु मे कालक्रम से होने वाली पर्यायो मे अनुस्यूत एकत्व द्रव्य का स्वरूप है। जैसे मिट्टी मे कालक्रम से होने वाली स्थास, कोश, कुसूल आदि पर्यायो मे मिट्टीपना अनुस्यूत रहता है, वैसे ही प्रत्येक वस्तु मे होने वाली पर्यायो मे एकत्व अनुस्यूत रहता है। (पृष्ठ ९२)

द्रव्यनिक्षेप : जो भविष्य मे जैसा होनेवाला है उसको वर्तमान मे वैसा कहना द्रव्यनिक्षेप है। (पृष्ठ १००)

द्रव्यपर्यायात्मा : (द्रव्य और पर्याय) ये दोनो जिसकी आत्मा, स्वभाव वा धर्म होते हैं, वह द्रव्यपर्यायात्मा है। (पृष्ठ २०)

द्रव्यश्रुत : वर्ण-पद-वाक्यरूप द्रव्यश्रुत है। (पृष्ठ ८५)

○ आप्त के उपदेशरूप वचनात्मक द्वादशाङ्गश्रुत को द्रव्यश्रुत कहते है। (पृष्ठ ९९)

द्रव्यार्थिक : नैगम आदि तीन नय द्रव्यार्थिक हैं। (पृष्ठ ६९)

○ समस्त अंशो को गौण करके केवल अंशी मे प्रवृत्त होने वाला ज्ञान नय ही है, उसे ही

द्रव्यार्थिक कहते हैं । (पृष्ठ ९१)

द्रव्यार्थिकनय : द्रव्य या सामान्य अथवा अभेद या उत्सर्ग या अन्वय को विषय करने वाले ज्ञान को द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। (पृष्ठ ५५)

० इसे (नैगमनय को) धवला टीका मे संग्रहासंग्रहरूप द्रव्यार्थिकनय कहा है। (पृष्ठ ६३)

द्रव्येन्द्रिय : निर्वृति और उपकरण रूप पुद्गल परिणाम को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। (पृष्ठ १४)

द्वीन्द्रिय : दो इन्द्रिय वाले जीव को द्वीन्द्रिय कहते हैं। (पृष्ठ १०७)

धर्म:वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। (पृष्ठ २)

० शुभकर्म रूप जीव के परिणामो को और उनका निमित्त पाकर बँधने वाले शुभकर्म रूप पुद्गल परिमाणो को भी धर्म कहा जाता है। (पृष्ठ २)

धारणा : जो स्मृति मे कारण हो उसे धारणा कहते हैं। (पृष्ठ १३)

अवाय से जाने हुए अर्थ का कालान्तर मे भी स्मरण हो सकने मे हेतु जो ज्ञान होता है उसे धारणा कहते हैं। (पृष्ठ १५)

ध्रुवज्ञान : बहुत काल तक जैसा का तैसा निश्चलज्ञान होना या पर्वत वगैरह स्थिर पदार्थ को जानना ध्रुवज्ञान है। (पृष्ठ १६)

नय : यदि दोनो ही ज्ञाता अपने-अपने अभिप्राय को स्वीकार करते हुए भी दृष्टिभेद से दूसरे के अभिप्राय का निराकरण नही करते हैं तो उन दोनो के ही अभिप्रायों को नय कहा जाता हैं। (पृष्ठ ५५)

० भेदाभेदात्मक वस्तु मे भेद और अभेद रूप जो अभिप्राय होते हैं, उन्हे नय कहते हैं। (पृष्ठ ७४)

० ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं। (पृष्ठ ७७)

० वस्तु के विषय मे ज्ञाता का जो अभिप्राय होता है वही नय है। (पृष्ठ ७७)

० प्रत्येक ज्ञाता अपने प्रयोजन के अनुसार वस्तु के किसी एक धर्म को ग्रहण करता है। वह एक धर्म वस्तु का एक अंश होता है। उस एक अंश को लेकर ही अपने अभिप्राय के अनुसार वस्तु-व्यवहार करता है। दूसरा ज्ञाता उस वस्तु के किसी दूसरे अंश या धर्म को लेकर वस्तु-व्यवहार करता है। इस तरह एक ही वस्तु मे ज्ञाताओं के विभिन्न अभिप्राय होते हैं, उन्हे नय कहते हैं। (पृष्ठ ७७)

० वस्तु का विकल अर्थात् विवक्षित एकदेश का कथन करना नय है। (पृष्ठ ८६)

० उपचार से वचन को भी नय कहा है, क्योंकि नय का कारण वचन भी नय कहा जाता

है। (पृष्ठ ८६)

• वस्तु का एकदेश वस्तु-अश ही है। उस वस्तु-अंश को जानने वाला ज्ञान नय है। (पृष्ठ ९०)

• श्रुतज्ञान के विषयभूत अर्थ के अंश को जो जानता है वह नय है। (पृष्ठ ९१)

• ज्ञाता वस्तु के एकदेश मे भी वस्तु का व्यवहार अपने अभिप्राय के अनुसार करता है। ज्ञाता के इस अभिप्राय को नय कहते है। (पृष्ठ १०१)

नय वाक्य : जीव स्यात् है ही (अस्त्येव), यह नयवाक्य है। (पृष्ठ ८६)

नयाभास : एक ज्ञाता वस्तु मे स्थायित्व देखकर उसे नित्य कहता है, दूसरा ज्ञाता उसी वस्तु मे होने वाले परिवर्तन को देखकर उसे अनित्य कहता है। ये विभिन्न अभिप्राय ही नय या दुर्नय अर्थात् नयाभास कहे जाते है। (पृष्ठ ५५)

नाम निक्षेप : जिसमे वैसा गुण नही है, फिर भी व्यवहार चलाने के लिये जो नामकरण किया जाता है उसे नाम निक्षेप कहते है। (पृष्ठ १००)

निक्षेप : जानने के नामादि रूप उपाय को निक्षेप कहते है। (पृष्ठ ७७)

• जानने के उपाय को निक्षेप कहते है। (पृष्ठ ७७)

• जो निश्चय या निर्णय मे स्थापित करता है उसे निक्षेप कहते हैं। (पृष्ठ १००)

निरंश : उन अंशो (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) से जो रहित होता है उसे निरश कहते है। (पृष्ठ ४२)

निर्देश : वस्तु के स्वरूप को कहना निर्देश है। जैसे जीव का लक्षण चेतना है। (पृष्ठ १०२)

निश्चयनय : अध्यात्मशास्त्र मे द्रव्यार्थक को निश्चयनय कहते है। (पृष्ठ ९२)

नि:सृतज्ञान : सामने उपस्थित पूरी वस्तु को जानना नि:सृतज्ञान है। (पृष्ठ १६)

निसर्गज : परोपदेश के बिना तत्त्वज्ञान होकर जो सम्यक्त्व होता है उसे निसर्गज कहते हैं। (पृष्ठ ९९)

नैगमनय : जो भेद और अभेद मे से परस्पर एक को गौण और एक को प्रधान करके कहता है, वह नैगमनय है। (पृष्ठ ६३)

'नैकं गमः नैगमः' इस नैगम शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार जो केवल एक को ही प्राप्त नही होता, अर्थात् अनेक को प्राप्त होता है वह नैगमनय है। (पृष्ठ ६३)

• गुण और गुणी, अवयव और अवयवी, क्रिया और कारक तथा जाति और जातिवान मे से जो कभी भेद को गौण करके अभेद को कहता है, अथवा अभेद को गौण करके भेद

को कहता है वह नैगमनय है । (पृष्ठ ६३)

० एक द्रव्य मे दो धर्मों को गौणता और मुख्यता से कहने का जो अभिप्राय है वह नैगमनय है। (पृष्ठ ९३)

०'नैकं गमो नैगम-' यह नैगम शब्द की व्युत्पत्ति है । जो धर्म और धर्मी मे से एक को नही कहता है, अपितु गौणता और मुख्यता से दोनो को कहता है, वह नैगमनय है । (पृष्ठ ९३)

० धर्म और धर्मी तो उपलक्षण रूप हैं, अत· उनसे अवयव-अवयवी, क्रिया-कारक, जाति-जातिमान् आदि का भी ग्रहण होता है। इनमे से एक की गौण रूप से और दूसरे की प्रधानरूप से जो विवक्षा है वह नैगमनय है। (पृष्ठ ९३)

नैगमाभास : जो सर्वथा भेद को कहता है वह नैगमाभास है। (पृष्ठ ६३)

० जो नय गुण-गुणी आदि मे अत्यन्त भेद ही मानता है वह नैगमाभास है। (पृष्ठ ६३)

० उनमे (एक द्रव्य मे दो धर्मो के) अत्यन्त भेद को कहने का जो अभिप्राय है वह नैगमाभास है। (पृष्ठ ९३)

० अवयव-अवयवी, क्रिया-कारक, जाति-जातिमान् आदि मे --- अत्यन्त भेद की विवक्षा नैगमाभास है। (पृष्ठ ९३)

पक्ष : साध्य धर्म से विशिष्ट धर्मी को पक्ष कहते हैं। (पृष्ठ ३६)

पक्षधर्मत्व : हेतु के उसमे (पर्वतादि मे) रहने को पक्षधर्मत्व कहते हैं। (पृष्ठ ३६)

पञ्चेन्द्रिय . जिसके पाँचो इन्द्रियाँ होती है उसे पञ्चेन्द्रिय कहते है। (पृष्ठ १०७)

पद · परस्पर सापेक्ष वर्णों के निरपेक्ष समुदाय को पद कहते हैं, जैसे 'गाय' आदि । (पृष्ठ ८८)

परमार्थसत् : जो अर्थक्रिया करने मे समर्थ है वही वस्तु परमार्थ सत् है (धर्मकीर्ति)। (पृष्ठ २१)

परार्थ : वचनात्मकश्रुत परार्थ है। (पृष्ठ २९)

० जिससे दूसरो को ज्ञान कराता है उसे परार्थ कहते है। (पृष्ठ २९)

० वचनरूप श्रुत परार्थ होता है। (पृष्ठ ९१)

परीक्षा : प्रमाण के बल से लक्षण के विवादों के दूर करने को परीक्षा कहते हैं । (पृष्ठ ५)

परोक्ष : अस्पष्ट ज्ञान को परोक्ष कहते हैं। (पृष्ठ ११)

० जो ज्ञान मन, प्रकाश, उपदेश वगैरह की सहायता से होता है, वह परोक्ष है। (पृष्ठ १२)

० जो पर की सहायता से वस्तु का ज्ञान होता है वह परोक्ष है। (पृष्ठ २७)
० (स्मृति आदि चारो ज्ञान) शब्द योजना सहित होने पर श्रुतज्ञान होने से परोक्ष कहा है। (पृष्ठ २९)
० बाह्य पदार्थ के विषय मे तो स्मृति आदि ज्ञान अस्पष्ट होते हैं, अत: उस अपेक्षा से वे परोक्ष ही हैं। (पृष्ठ ३२)
परोक्ष प्रमाण : अस्पष्ट होने से अनुमान ज्ञान को परोक्ष प्रमाण कहते हैं। (पृष्ठ १२)
पर्याय : व्यावृत्ताकार को पर्याय कहते हैं। (पृष्ठ २०)
० एक द्रव्य मे क्रम से होने वाले परिणमनों को पर्याय कहते हैं । (पृष्ठ ७२)
पर्यायार्थिक : ऋजुसूत्र आदि चार नय पर्यायार्थिक हैं। (पृष्ठ ६९)
पर्यायार्थिक नय : पर्याय या विशेष या भेद या व्यतिरेक या अपवाद को विषय करने वाले ज्ञान को पर्यायार्थिक नय कहते हैं। (पृष्ठ ५५-५६)
पश्यन्ती : व्यक्तिरूप भाववाक् को पश्यन्ती कहा जा सकता है। (पृष्ठ ३१)
पृथक्त्व : भिन्न-भिन्न द्रव्यों की पर्यायो मे जो भेद है, उसे पृथक्त्व कहते हैं। (पृष्ठ ९२)
प्रत्यक्ष : स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। (पृष्ठ ५)
० ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम या क्षय से युक्त आत्मा से होने वाले परनिरपेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। (पृष्ठ १०)
० अन्य दार्शनिको ने इन्द्रियो के सद्भाव मे ज्ञान का सद्भाव और इन्द्रियो के् अभाव मे ज्ञान का अभाव माना है और वे इन्द्रियो से होनेवाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते है। (पृष्ठ १२)
० जो केवल आत्मा के द्वारा वस्तु का ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष है। (पृष्ठ २७)
० अन्य सभी दर्शनो मे इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है। (पृष्ठ २७)
० न्याय-वैशेषिक, साख्य, बौद्ध आदि सभी दर्शन इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते है। (पृष्ठ २८)
० स्मृति आदि के स्वरूप मे स्पष्टता है, अत उन्हे प्रत्यक्ष कहा है। (प्रभाचन्द्राचार्य) । (पृष्ठ३२)
० अक्ष अर्थात् इन्द्रिय और मन से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते है। (पृष्ठ ४७)
प्रत्यक्ष प्रमाण : स्पष्ट प्रतिभासी ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है। (पृष्ठ १०)
० जब हम उस स्थान पर पहुँचते हैं जहाँ से धुआँ उठ रहा है तो हमे आँखो से आग को देखकर उसका निश्चित स्थान-आकार वगैरह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है, अत उसे

(सांव्यवहारिक) प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। (पृष्ठ १२)

प्रत्यक्षाभ : जो ज्ञान प्रत्यक्ष की तरह प्रतीत हो उसे प्रत्यक्षाभ या प्रत्यक्षाभास कहते हैं। (पृष्ठ ४७)

प्रत्यक्षाभास : जिस निर्विकल्पक ज्ञान को बौद्ध प्रत्यक्ष कहते हैं उसका कभी भी स्पष्ट रूप से प्रतिभास नही होता, इसलिये अस्पष्ट निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रत्यक्षाभास हैं। (पृष्ठ ४८)

० संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप मिथ्याज्ञान प्रत्यक्षाभास हैं। (पृष्ठ ५०)

प्रत्यभिज्ञान : 'यह वही है' अथवा यह 'उसके समान है' इस प्रकार के ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं । (पृष्ठ ३३)

० प्रत्यक्ष और स्मरण की सहायता से जो जोड़ रूप ज्ञान होता है उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। (पृष्ठ ४४,४६)

प्रत्यभिज्ञानाभास : देवदत्त को देखकर यज्ञदत्त समझ लेना प्रत्यभिज्ञानाभास है। (पृष्ठ ५०)

प्रमत्तसंयत : अनन्तानुबन्धी कषाय का उपशम, क्षय या उदयक्षय होने पर तथा आठ कषायो का उदयक्षय और सदुपशम और संज्वलन तथा नोकषायों के उदय मे संयम होता है। किन्तु पन्द्रह प्रकार के प्रमादो के कारण चारित्र परिणाम में किञ्चित् स्खलन भी होता है, अत. उसे प्रमत्तसंयत कहते हैं। (पृष्ठ १०५)

प्रमाण : 'प्र' अर्थात् प्रकर्ष से संशय, विपर्यास और अनध्यवसाय को दूर करके 'मिमीते' अर्थात् स्वपर स्वरूप को जो जानता है, या जिसके द्वारा जाना जाता है या जो जानता है उसे प्रमाण कहते हैं। (पृष्ठ ६)

० अभेद की विवक्षा मे कर्तृ साधन होता है, (अत·) जो जानता है वही प्रमाण है। (पृष्ठ ६)

० व्यवहारनय से आत्मा और ज्ञान मे भेद है, अत. आत्मा ज्ञान के द्वारा जानता है । यहाँ आत्मा कर्ता और ज्ञान करण है, अत ज्ञान ही प्रमाण है। (पृष्ठ६)

० सांख्य इन्द्रियवृत्ति को प्रमाण मानता है। (पृष्ठ ७)

० मीमांसक प्रभाकर के अनुयायी ज्ञाता के व्यापार को प्रमाण मानते हैं। (पृष्ठ ७)

० बौद्धो का कहना है कि प्रमाण तो ज्ञान ही है, किन्तु निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रमाण है । (पृष्ठ ८)

० स्व और अपूर्व अर्थ के निश्चायक ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। (पृष्ठ९)

० जो ज्ञान जितने विषय मे अविसंवादी होता है, वह ज्ञान उतने अंश में प्रमाण माना जाता

है। (पृष्ठ ४७)

० जो ज्ञान जिस विषय मे अविसंवादी होता है वह उस विषय मे प्रमाण माना जाता है। (पृष्ठ ४८)

० प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान प्रमाणो के द्वारा व्यवहार मे विसंवाद नही होता, अत वे सब प्रमाण है। (पृष्ठ ५०)

० व्यवहार मे अविसवादी होने से श्रुतज्ञान भी प्रमाण है। (पृष्ठ ५१)

० स्व और पर के ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। (पृष्ठ ७७)

० जैनदर्शन मे स्व और पर के अर्थात् अपने और बाह्य पदार्थ के निश्चयात्मक ज्ञान को ही प्रमाण माना जाता है। (पृष्ठ ७७)

० आत्मा से और आदि शब्द से ज्ञानावरण कर्म के क्षय, क्षयोपशम तथा बाह्य कारण इन्द्रिय आदि की सहायता से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही प्रमाण है। (पृष्ठ७७)

० साधकतम होने से ज्ञान ही प्रमाण है। (पृष्ठ ७९)

० समस्त अशो की प्रधानता को लिये हुए अंशी मे प्रवृत्त होने वाला ज्ञान प्रमाण है। (पृष्ठ ९१)

० जैन सिद्धान्त मे सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण माना है। (पृष्ठ १००)

प्रमाण वाक्य : जिसके द्वारा अनेकधर्मात्मक वस्तु का कथन किया जाता है, वह प्रमाण वाक्य है। (पृष्ठ ८६)

प्रमाणाभास : जो उनसे (अर्थात् प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान से) अन्यथा होते है वे प्रमाणाभास है। (पृष्ठ ५०)

० जहाँ विसवाद पाया जाता है अर्थात् कुछ को जान लिया जाता है, वह प्रमाणाभास है। (पृष्ठ ५०)

प्रवचन · आगम को प्रवचन कहते है। (पृष्ठ ११०)

बहुज्ञान : बहुत वस्तुओ के ग्रहण करने को बहुज्ञान कहते है। (पृष्ठ १६)

० सेना या वन को एक समूह रूप मे जानना बहुज्ञान है। (पृष्ठ १६)

बहुविधज्ञान : बहुत तरह की वस्तुओ के ग्रहण को बहुविधज्ञान कहते हैं। (पृष्ठ १६)

० हाथी, घोड़े आदि या आम, महुआ आदि भेदो का जानना बहुविधज्ञान है। (पृष्ठ १६)

भव्य : जो जीव भविष्य मे मोक्ष प्राप्त करेगा उसे भव्य कहते हैं। (पृष्ठ १०८)

भाव : जीव के औदयिक आदि परिणामो को भाव कहते हैं। जैसे औपशमिक सम्यग्दृष्टि

औपशमिकभाव वाला है। मिथ्यादृष्टि के औदयिकभाव है, क्योकि उसके मिथ्यात्व का उदय है। (पृष्ठ १०२)

भाव निक्षेप : वर्तमान मे जो जिस पर्याय से युक्त है उसको वैसा ही कहना भाव निक्षेप है। (पृष्ठ १००)

भाववाक् : शब्द ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से विशिष्ट आत्मा मे जो बोलने की शक्ति होती है उसे शक्तिरूप भाववाक् कहते हैं। (पृष्ठ ३१)

भावश्रुत : उसके (वर्ण, पद और वाक्य के) श्रवण से जो ज्ञान होता है वह भावश्रुत है। (पृष्ठ ८५)

० उसके (द्वादशाङ्गश्रुत के) अर्थज्ञान को भावश्रुत कहते है। (पृष्ठ ९९)

भावेन्द्रिय : जीव के परिणाम को भावेन्द्रिय कहते है (पृष्ठ १४)

मतिज्ञान · इन्द्रिय तथा मन की सहायता से होने वाले ज्ञान को मतिज्ञान कहा है । (पृष्ठ १०३)

मुख्य प्रत्यक्ष : जो ज्ञान अपने आवारक कर्म के हट जाने से प्रकट होता है वह मुख्य रूप से प्रत्यक्ष कहा जाता है । (पृष्ठ १०)

० जैन सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है, अत· आत्मा के सिवाय अन्य किसी की भी सहायता के बिना जो ज्ञान होता है वही मुख्यप्रत्यक्ष है। (पृष्ठ१२)

० जो अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है, अर्थात् इन्द्रियो की सहायता के बिना केवल आत्मा से होने वाला प्रत्यक्ष है, वही मुख्यप्रत्यक्ष है। (पृष्ठ १२)

० अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ही मुख्य प्रत्यक्ष है। (पृष्ठ ८४)

मूल : व्यवहार मे उपयोगी स्वरूप को मूल कहते है। (पृष्ठ २५)

मोक्षगति : मोक्षगति क्षायिकी है। (पृष्ठ १०६)

योग : वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से होने वाली वीर्यलब्धि से युक्त आत्मा के मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणा के आलम्बन से जो प्रदेश परिस्पन्द होता है उसे योग कहते है। (पृष्ठ १०७)

योग्यता : जैसे ज्ञान और अर्थ मे ज्ञाप्य-ज्ञापक शक्ति होती है वैसे ही शब्द और अर्थ मे प्रतिपाद्य-प्रतिपादक शक्ति होती है। उसे ही योग्यता कहते हैं। (पृष्ठ ५२)

लक्षण : उद्दिष्ट वस्तु के असाधारण स्वरूप के कथन को लक्षण कहते हैं। (पृष्ठ ५)

लब्धि : अर्थ को ग्रहण करने की शक्ति को लब्धि कहते हैं। (पृष्ठ १४)

लिङ्ग : साध्य के साथ साधन के अविनाभाव को लिङ्ग कहते हैं। (पृष्ठ ३४)

लेश्या : कषाय के उदय से अनुरञ्जित योगप्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं । (पृष्ठ १०८)

वर्ण : 'क' 'ख' आदि अक्षरों को वर्ण कहते हैं । (पृष्ठ ८८)

वस्तु : वस्तु अंश और अशी के स्वरूप को कहते हैं। (पृष्ठ ९०)

वाक्य : परस्पर सापेक्ष पदो के निरपेक्ष समुदाय को वाक्य कहते हैं। जैसे 'गाय लाओ'। (पृष्ठ ८८)

विकल्पज्ञान : 'यह घट है,' 'यह गौ है', 'यह शुक्ल है', इत्यादि निश्चयात्मक ज्ञानो को विकल्पज्ञान कहते हैं। (पृष्ठ ४८)

विकार : पूर्व आकार को छोड़कर उत्तर आकार को धारण करने का नाम विकार या विक्रिया है। (पृष्ठ २४)

विक्रिया : पूर्व आकार को छोड़कर उत्तर आकार को धारण करने का नाम विक्रिया या विकार है। (पृष्ठ २४)

विज्ञान : 'वि' अर्थात् जाति आदि के आकार रूप विशेष का ज्ञान अर्थात् निश्चय जो करता है वह विज्ञान है। या विशेष रूप से अर्थात् संशय आदि के व्यवच्छेद पूर्वक ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। (पृष्ठ ८)

० 'वि' अर्थात् विविध स्व और अपूर्व अर्थ को जो जानता है, वह विज्ञान है। (पृष्ठ८)

० सामान्य विशेषात्मक वस्तु के सशयादि से रहित विशिष्ट ज्ञान को विज्ञान कहते है। (पृष्ठ ७१)

विधान : प्रकार के कथन को विधान कहते हैं। जैसे सम्यग्दर्शन के तीन प्रकार है। औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक। (पृष्ठ १०२)

विपक्ष : साध्य से विरुद्ध धर्म वाले धर्मी को विपक्ष कहते हैं। (पृष्ठ ३६)

विपर्ययज्ञान : सीप मे होने वाला चाँदी का ज्ञान विपर्यय ज्ञान है। (पृष्ठ ७९)

विशेष : एक पदार्थ की अपेक्षा दूसरे पदार्थ में रहने वाले विसदृश परिणाम को विशेष कहते हैं। (पृष्ठ ७२)

विसंवाद : ग्रहण किये गये अर्थ में यदि व्यभिचार हो अर्थात् यदि सीप को चाँदी के रूप मे जाना हो तो उसे विसंवाद कहते हैं। (पृष्ठ ४८)

वेद : आत्मा की प्रवृत्ति से जो सम्मोह उत्पन्न होता है उसे वेद कहते हैं। (पृष्ठ १०७

व्यतिरेक : कारण के अभाव में कार्य का अभाव व्यतिरेक है। (पृष्ठ १५)

० कारण के न होने पर कार्य के न होने को व्यतिरेक कहते हैं। (पृष्ठ ७८)

व्यवहार : कार्य कारणभाव आदि की व्यवस्था का नाम व्यवहार है। (पृष्ठ ६६)

व्यवहारनय : बाह्य अर्थ है, प्रमाण है, साध्य साधन भाव है– इत्यादि मानने वाला व्यवहारनय है। (पृष्ठ ६६)

० अध्यात्मशास्त्र मे पर्यायार्थिक को व्यवहारनय कहते हैं। (पृष्ठ ९२)

० चेतन या अचेन द्रव्य का जो स्वभाव कभी भी नष्ट नही होता है, उसका अवलम्बन लेने वाला व्यवहारनय है । (पृष्ठ ९२)

० संग्रहनय के द्वारा एकरूप से सगृहीत पदार्थों के विधिपूर्वक भेद-प्रभेद करने को व्यवहारनय कहते हैं। (पृष्ठ ९४)

व्यवहाराभास : अर्थ के तीन रूप हैं– वस्तुरूप, शब्दरूप और ज्ञानरूप। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से जो युक्त हो वह सत् है, गुणपर्याय वाला द्रव्य है, जीव चैतन्य स्वरूप है, ये वस्तु रूप अर्थ हैं, सत् द्रव्य आदि शब्द शब्दरूप अर्थ हैं और उनका ज्ञान ज्ञानरूप अर्थ है। व्यवहारनय इन तीनो को ही स्वीकार करता है। जो इन्हे स्वीकार नही करता वह व्यवहाराभास है। क्योंकि वे व्यवहार के विरोधी हैं। (पृष्ठ ९५)

व्याप्ति : साध्य और साधन के अविनाभाव सम्बन्ध को व्याप्ति कहते है। (पृष्ठ ३४)

संकेत : इस शब्द का यह वाच्य है और यह शब्द इस अर्थ का वाचक है, इस प्रकार के वाच्य-वाचक विनियोग को संकेत कहते हैं। (पृष्ठ ५२)

संख्या : भेदो की गणना को सख्या कहते हैं। जैसे जीव अनन्तानन्त है या मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त हैं। (पृष्ठ १०२)

संग्रह : संक्षेप से अथवा सम्पूर्णरूप से ग्रह (ग्रहण) को संग्रह कहते हैं। (पृष्ठ १०)

संग्रहनय : समस्त चेतन-अचेतन वस्तुएँ एक हैं, क्योकि सभी सत्स्वरूप है, यह सग्रहनय है । (पृष्ठ ५७)

० जब कोई दृष्टि वस्तुओ मे वर्तमान पारस्परिक भेद को छोड़कर केवल अभेद का अवलम्बन लेती है, तब उसे सब कुछ केवल सत्स्वरूप ही भासित होता है। इस तरह सत्ता रूप तत्त्व को अभेद रूप से ग्रहण करने वाली दृष्टि को संग्रहनय कहते हैं। (पृष्ठ५७)

० समस्त चेतन-अचेतन वस्तु सत्सामान्य की अपेक्षा एक हैं, ऐसा ग्रहण करने वाला संग्रहनय है। (पृष्ठ ५८)

० जो अपनी जाति का विरोध न करके भेदों में एकत्व लाकर उन सबको एकत्व रूप से

ग्रहण करता है, उसे संग्रहनय कहते हैं। (पृष्ठ ६२)

० 'सत्' कहने से जो सत् हैं– द्रव्य-पर्याय और उनके भेद-प्रभेद, उन सबका ग्रहण करना सग्रहनय है। (पृष्ठ ६२)

० 'द्रव्य' कहने से जीव-अजीव और उनके भेद-प्रभेदो को एक रूप मे ग्रहण करना संग्रहनय है। (पृष्ठ ६२)

० सत् के अभेद से सबका एकरूप से संग्रह करने वाला सग्रहनय है। (पृष्ठ ९४)

० ससार मे जो कुछ है वह सत् अवश्य है। सत् से भिन्न कुछ नही है। अत जीव-अजीव आदि समस्त भेदो को एकरूप से ग्रहण करने वाला संग्रहनय है। (पृष्ठ ९४)

सग्रहाभास : अद्वैतवाद सब पदार्थों को एक रूप से ग्रहण करता है, किन्तु वह उसके भेदो को काल्पनिक (मायाकृत) मानकर उनका निषेध करता है, अत· वह संग्रहाभास है। (पृष्ठ ६२)

० वेदान्तियो का ब्रह्मवाद समस्त जगत् को ब्रह्मरूप मानता है, किन्तु वह भेद का निराकरण क'ता है, अतः वह सग्रहाभास है। (पृष्ठ ९४)

संज्ञा : 'यह वही है' अथवा 'यह उसके समान है' इस प्रकार के ज्ञान को सज्ञा करते है। (पृष्ठ ३३)

० सज्ञा प्रत्यभिज्ञान को कहते हैं। (पृष्ठ ५०)

संज्ञी : जो शिक्षा, उपदेश आदि को ग्रहण कर सकता है वह सज्ञी है। (पृष्ठ १०८)

संयतासयत : अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण नामक कषाये सर्वघाती ही है। इनके उदय-क्षय और सदुपशम से तथा सर्वघाती प्रत्याख्यानावरण का उदय होने पर और देशघाती संज्वलन कषाय तथा नौ नोकषायो का उदय होने पर संयमासंयमलब्धि होती है। उसके योग्य प्राणिविषयक और इन्द्रियविषयक विरताविरत रूप परिणति वाला जीव संयतासंयत कहलाता है। (पृष्ठ १०५)

संयम : व्रतो का धारण, समिति का पालन, कषाय का निग्रह, मन-वचन काय की प्रवृत्ति का त्याग और इन्द्रियो को जीतना सयम है। (पृष्ठ १०८)

संव्यवहार : समीचीन प्रवृत्ति मे निमित्त रूप व्यवहार को सव्यवहार कहते हैं। (पृष्ठ १०)

संशय : असत् के आरोप का नाम संशय है। (पृष्ठ २६)

सत् : उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से जो युक्त हो वह सत् है। (पृष्ठ ६६)

० 'जीव है' इत्यादि अस्तित्व के कथन करने को सत् कहते हैं। (पृष्ठ १०२)

सत्ता : समस्त पदार्थों में साधारण रूप से पाये जाने वाले सत्त्व सामान्य को सत्ता कहते है। (पृष्ठ १३)

सत्ता सामान्य : जीव, अजीव और उसके प्रभेद जिसके अन्तर्भूत है वह सत्ता सामान्य है। (पृष्ठ ५६)

सत्यार्थ : आगम मे निश्चयनय को सत्यार्थ कहा है। (पृष्ठ १०१)

सन्तान : कार्यकारणभाव रूप से प्रवृत्त क्षणपरम्पराओ के प्रवाह का नाम सन्तान है। (पृष्ठ ४)

सपक्ष : साध्य के समानजातीय धर्मी को सपक्ष कहते हैं। (पृष्ठ ३६)

समभिरूढ़नय : जो पर्यायशब्द के भेद से अर्थ को भेद रूप ग्रहण करता है वह समभिरूढनय है। (पृष्ठ ६७)

० पर्यायशब्द से अर्थभेद मानने वाला समभिरूढनय है। (पृष्ठ ६८)

० पर्याय भेद से अर्थभेद मानने वाला समभिरूढनय है। (पृष्ठ ९६)

० जैसे स्वर्गलोक के स्वामी को इन्द्र, शक्र और पुरन्दर कहते हैं। यद्यपि इन शब्दो मे लिङ्गादि का भेद नही है, किन्तु पर्याय भेद है। इन्दन से इन्द्र, शक्तिशाली होने से शक्र और नगरो का विदारण करने से पुरन्दर कहा जाता है। अत· यह नय इन्द्र को तीन रूप से ग्रहण करता है। (पृष्ठ ९६)

सम्यक्त्व : तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहते है। (पृष्ठ १०८)

सम्यक् मिथ्यादृष्टि : जैसे आधे शुद्ध किये गये कोदो को खाने से किञ्चित् मद रहने से परिणाम किञ्चित् कलुषित होते है, वैसे ही सम्यक्-मिथ्यात्व नामक प्रकृति के उदय से आत्मा के परिणाम तत्त्वार्थ के श्रद्धान और अश्रद्धान रूप होते हैं, अत उसे सम्यक्-मिथ्यादृष्टि कहते है। (पृष्ठ १०५)

सम्यग्दर्शन : तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। (पृष्ठ ९९)

सम्यग् हेतु : साध्य के साथ जिसका अविनाभाव नियम सुनिश्चित हो, वही हेतु सम्यग् हेतु है। (पृष्ठ ३६)

सयोगकेवली : योग सहित केवली को सयोगकेवली कहते हैं। (पृष्ठ १०६)

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष : इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाला मतिज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलाता है। (पृष्ठ १०)

० इन्द्रियादि की सहायता से उत्पन्न होने वाला ज्ञान वास्तव मे तो परोक्ष है, किन्तु चूँकि

उसे लोक-व्यवहार में प्रत्यक्ष कहा जाता है अत: वह गौण प्रत्यक्ष होने से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। (पृष्ठ १२)

० सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का मतलब है पारमार्थिक प्रत्यक्ष नही, किन्तु चूँकि व्यवहार मे उसे प्रत्यक्ष कहा है, अत वह साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। (पृष्ठ २८)

० आगमिक परम्परा मे जिसे मतिज्ञान कहा है उसे ही दार्शनिक परम्परा मे साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है। (पृष्ठ २८)

० उन्हे (स्मृति आदि चारो ज्ञानो को) शब्द योजना से पूर्व तो साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है। (पृष्ठ २९)

० अक्ष माने इन्द्रिय और उससे होने वाले ज्ञान को अक्षधी अर्थात् सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। (पृष्ठ ५०)

० इन दोनो (इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष) को साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। क्योकि ये दोनो एकदेश से स्पष्ट होते हैं। (पृष्ठ ८३,८४)

सादृश्य प्रत्यभिज्ञान : 'यह उसके समान है' यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है। (पृष्ठ ३३)

० 'गौ के समान गवय होता है' इस वाक्य को स्मरण करके और सामने उपस्थित गौ के समान पशु को प्रत्यक्ष देखकर 'इसके समान गौ है' या 'यह गवय नाम का पशु है' इस प्रकार का जो ज्ञान होता है वह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान ही है। (पृष्ठ ४४)

साधन : जिससे साध्य की सिद्धि की जाती है उसे साधन कहते है। (पृष्ठ ३४)

० उत्पत्ति के निमित्त को साधन कहते हैं। जैसे सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का अन्तरङ्ग साधन दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम आदि और बाह्य साधन जिनबिम्ब दर्शन आदि है। (पृष्ठ १०२)

सासादन सम्यग्दृष्टि : मिथ्यादर्शन का उदय रुक जाने पर अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से कलुषित आत्मा वाला जीव सासादन सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। (पृष्ठ १०३)

० अन्तिम समय मे मिथ्यादर्शन के तीन भाग हो जाते हैं– सम्यक्त्व, सम्यक्-मिथ्यात्व और मिथ्यात्व। इन तीनो प्रकृतियो के तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय का अभाव होने पर अन्तर्मुहूर्त के लिए प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्रकट होता है। उसके अन्त होने मे जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से छह आवलि काल शेष रहने पर जब अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ मे से किसी एक का उदय होता है तब उसे सासादन सम्यग्दृष्टि कहते हैं। (पृष्ठ १०४)

० आसादन का अर्थ है विराधना और जो आसादन सहित हो उसे सासादन कहते हैं। जिसकी

सम्यग्दृष्टि सासादन-विराधना सहित होती है वह सासादन सम्यग्दृष्टि है। (पृष्ठ १०५)

सुनय : नैगमादि नय प्रत्यक्ष और अनुमानादि से अविरुद्ध होने के कारण सुनय हैं। (पृष्ठ ७४)

सूक्ष्मसाम्पराय : साम्पराय कषाय को कहते हैं। जहाँ कषाय का सूक्ष्म रूप से उपशम या क्षय होता है उसे सूक्ष्मसाम्पराय कहते हैं। (पृष्ठ १०६)

स्थापना निक्षेप : तदाकार या अतदाकार वस्तु मे किसी की स्थापना करने को स्थापना निक्षेप कहते हैं। (पृष्ठ १००)

स्थिति : ठहरने की मर्यादा को स्थिति कहते हैं। जैसे औपशमिक सम्यग्दर्शन की स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। (पृष्ठ १०२)

स्पर्शन : त्रिकालवर्ती निवास को स्पर्शन कहते हैं। जैसे जीवो का स्थान सर्वलोक है। (पृष्ठ १०२)

स्पष्टता : अनुमान आदि से अधिक जो पदार्थों के देश, काल, आकार आदि विशेषो का प्रतिभास होता है उसे ज्ञान की स्पष्टता कहते हैं। (पृष्ठ११)

स्मृति : 'वह देवदत्त है' इस प्रकार पहले जाने हुए पदार्थ को कालान्तर मे स्मरण करने वाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं। (पृष्ठ ३३)

० स्मृति केवल पूर्व पर्याय को ही जान सकती है। (पृष्ठ ३३)

० पूर्व मे जानी हुई वस्तु के स्मरण को स्मृति कहते हैं। (पृष्ठ ५०)

स्मृत्याभास : पहले देखे हुए देवदत्त को यज्ञदत्त के रूप में स्मरण करना स्मृत्याभास है। (पृष्ठ ५०)

स्याद्वाद : अनेकान्तात्मक अर्थ के कथन का नाम स्याद्वाद है। (पृष्ठ ८५)

० छह द्रव्य हैं– जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमे से जीव मे ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य तो असाधारण धर्म हैं। ये धर्म अन्य द्रव्यो मे नही पाये जाते हैं। अमूर्तत्व, असख्यात-प्रदेशत्व और सूक्ष्मत्व ये गुण साधारण भी हैं, क्योकि आकाश आदि मे पाये जाते हैं और असाधारण हैं, क्योंकि पुद्‌गल द्रव्य मे नही पाये जाते हैं। सत्त्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व धर्म साधारण हैं और सब द्रव्यो मे पाये जाते हैं। अत: जीव अनेकान्तात्मक है। पुद्‌गल द्रव्य मे स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण– ये असाधारण धर्म हैं। सत्त्व, प्रमेयत्व आदि साधारण धर्म हैं। अचेतनत्व, मूर्तत्व आदि साधारण भी हैं और असाधारण भी। अत पुद्‌गल भी अनेकान्तात्मक है। धर्म द्रव्य में गति हेतुत्व असाधारण धर्म है, सत्त्व आदि साधारण

धर्म है, अचेतनत्व आदि साधारण-असाधारण-दोनो धर्म हैं। अत धर्म द्रव्य भी अनेकान्तात्मक है। अधर्म द्रव्य मे स्थिति हेतुत्व असाधारण धर्म है, सत्त्व आदि साधारण धर्म हैं, अमूर्त्तत्व आदि साधारण-असाधारण-दोनो धर्म हैं। अत. अधर्म द्रव्य भी अनेकान्तात्मक है। आकाश द्रव्य मे अवगाहन असाधारण धर्म है, सत्त्व आदि साधारण धर्म है, अमूर्त्तत्व आदि साधारण-असाधारण-दोनो धर्म है। अत आकाश भी अनेकान्तात्मक है। काल द्रव्य मे वर्तना असाधारण गुण है, सत्त्व आदि साधारण धर्म है और अमूर्त्तत्व आदि साधारण-असाधारण-दोनो धर्म है। अत काल द्रव्य भी अनेकान्तात्मक है। ऐसा कथन करना स्याद्वाद है। (पृष्ठ ८५-८६)

स्वसंवेदन : ज्ञान का अपने स्वरूप को जानना स्वसवेदन है। (पृष्ठ १७)

० स्वय अपने को जानने का नाम स्वसंवेदन है। (पृष्ठ ४३)

स्वामित्व : वस्तु के स्वामित्व के कहने को स्वामित्व कहते है। जैसे सम्यग्दर्शन किसके होता है? ऐस प्रश्न होने पर यह कहना कि चारो जाति के जीवो को सम्यग्दर्शन होता है। (पृष्ठ १०२)

स्वार्थ . ज्ञानरूप श्रुत स्वार्थ होता है। (पृष्ठ ९१)

० मति, अवधि, मन पर्यय और केवलज्ञान को स्वार्थ कहा है। (पृष्ठ २९)

० ज्ञानात्मकश्रुत स्वार्थ है। (पृष्ठ २९)

० जिससे ज्ञाता स्वय जानता है, उसे स्वार्थ कहते है। (पृष्ठ २९)

शब्द नय : काल, कारक, लिङ्ग, सख्या, साधन, उपग्रह आदि के भेद से जो अर्थ को भेदरूप ग्रहण करता है, वह शब्दनय है। (पृष्ठ ६७)

० जो कालादि के भेद से अर्थ को भेदरूप ग्रहण करता हे वह शब्दनय है। (पृष्ठ ६७)

० शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत– ये तीन शब्दनय है। क्योकि ये शब्द के आश्रय से प्रवृत्त होते है। (पृष्ठ ६९)

० तीन नय (शब्दनय, समभिरूढनय और एवम्भूतनय) शब्द की प्रधानता से अर्थ को ग्रहण करते है, अत उन्हे शब्दनय कहते हैं। (पृष्ठ ९६)

० काल, कारक, लिग आदि के भेद से अर्थ मे भेद करने वाला शब्दनय है। (पृष्ठ ९६)

शब्दनयाभासी : जो वैयाकरण अर्थभेद के बिना कालादि भेद स्वीकार करते है वे शब्दनयाभासी हैं। (पृष्ठ ६९)

श्रुत · जो सुना जाता है वह श्रुत है। (पृष्ठ २९)

० द्वादशाङ्गवाणी को श्रुत कहते है। (पृष्ठ २९)

० व्यवहार मे शब्द से होने वाले ज्ञान को श्रुत कहते है। (पृष्ठ ३०)

० शब्दयोजन से पहले जो अस्पष्ट ज्ञान होता है केवल वही श्रुत नही है, किन्तु शब्दयोजन मे जो अस्पष्ट ज्ञान होता है वह भी श्रुत है। उनका कारण मतिज्ञान है और स्मृति आदि उनके भेद है। (पृष्ठ ३२)

० जो सुना जाता है उसे श्रुत कहते है। (पृष्ठ ८५)

० आप्तवचन को श्रुत कहते है। (पृष्ठ ८५)

० श्रुतज्ञान मे कारण वचन को श्रुत कहा जाता है। (पृष्ठ ८६)

श्रुतज्ञान . शब्दयोजना सहित ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते है। (पृष्ठ २९)

० मति आदि ज्ञान शब्दयोजना सहित होने से श्रुतज्ञान है। (पृष्ठ ३१)

० शब्दयोजना पूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है। (पृष्ठ ३२)

० प्रामाणिक पुरुष के वचन आदि के निमित्त से मतिज्ञानपूर्वक जो अर्थज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते है। (पृष्ठ ५०)

० आगम से होने वाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते है। (पृष्ठ ११०)

हेतु साधन को ही हेतु कहते है। (पृष्ठ ३६)